चलो बनारस

घाटों, गलियों, स्वाद, संस्कृति
और आध्यात्मिक अनुभवों की यात्रा

राजेश शुक्ल

BlueRose ONE .com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Rajesh Shukla 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

For permissions requests or inquiries regarding this publication,
please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-81-6744-294-9

Cover design: Ajay Dhyani
Typesetting: Sagar

First Edition: August 2026

सभी दोस्तों के लिए

प्रस्तावना

काशी, बनारस या वाराणसी केवल एक भौगोलिक नाम नहीं, भारतीय आत्मा के भीतर सूक्ष्म और लगातार चलने वाले विद्रोह की परंपरा का प्रतीक भी है। दुनिया भर के प्राचीनतम शहरों में गिने जाने वाले इस शहर ने सदियों से केवल तीर्थयात्रियों और साधुओं को सिर्फ आकर्षित नहीं किया, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक विरोध का एक स्थायी मंच भी रहा है। काशी में गंगा के घाटों की शांति के पीछे एक तीव्र ऊर्जा रहती है। यहां धार्मिक आचरण और सांस्कृतिक अनुष्ठान साथ-साथ चलते हुए कोई भी समय-समय पर बदलाव और विरोध की लहरों को महसूस कर सकता है।

सनातन काल से आधुनिक युग तक काशी या बनारस ने विद्रोह के कई रूप देखे हैं। धार्मिक आंदोलनों में यह शहर वैचारिक और अनुष्ठानिक पुनर्विचार का केंद्र रहा। भक्तिकाल से लेकर दलित चेतना तक की आवाजें इसी शहर से उठती रही हैं। कालान्तर में औपनिवेशिक प्रतिरोध और राष्ट्रीय-स्वातंत्र्य आंदोलन में बनारस ने सक्रिय भूमिकाएँ निभाईं। यहाँ के विश्वविद्यालयों और शैक्षणिक संस्थानों में बढ़ती राजनीतिक चेतना ने छात्र-आंदोलनों और जनप्रेरक आंदोलनों को जन्म दिया। स्वतंत्रता के बाद भी सामाजिक असमानताओं और सांस्कृतिक संरक्षण के मुद्दों पर काशी बार-बार विरोध और पुनर्संगठन का केंद्र रहा।

काशी का महत्व उसकी स्थिरता में नहीं बल्कि उसकी परिवर्तनशीलता में निहित है। यह नगर न केवल धार्मिक श्रद्धा का केंद्र है, बल्कि सामजिक चेतना, सांस्कृतिक संवेदना और राजनीतिक प्रतिरोध का भी महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। वाराणसी में हिंदू-मुस्लिम भाईचारा उसकी सबसे बड़ी सामाजिक शक्ति है। यह शहर सदियों से गंगा-जमुनी तहज़ीब का जीवंत उदाहरण रहा है। यहाँ कई समुदाय केवल साथ रहते नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पर्व, दुख-सुख और परंपराओं में भी भागीदारी करते रहे हैं।

यहाँ की साझी संस्कृति में इफ्तार, मुहर्रम, होली और रामलीला जैसी परंपराएँ सामाजिक एकता को मजबूत करती हैं। हरिश्चंद्र घाट के 'कुम्हार के ताज़िये' जैसी मिसालें दिखाती हैं कि धार्मिक पहचान के बावजूद परस्पर सम्मान और सहयोग गहराई से रचा-बसा है। मुस्लिमों का मंदिरों, मेलों और सांस्कृतिक आयोजनों में शामिल होना, और हिंदुओं का रमज़ान के आयोजनों में भाग लेना, इस शहर की साझी चेतना और विरासत को और मजबूत बनाता है। वाराणसी का यह भाईचारा केवल प्रतीकात्मक नहीं, बल्कि रोजमर्रा के जीवन में भी दिखाई देता है। व्यापार, मोहल्लों की साझी ज़िंदगी, लोककला, संगीत और धार्मिक स्थलों की परंपराएँ इस संबंध को निरंतर बनाए रखती हैं। इसलिए बनारस भारत में सांप्रदायिक सौहार्द का एक ऐसा उदाहरण है, जहाँ आस्था अलग हो सकती है, लेकिन इंसानियत एक ही रहती है।

प्राचीन काल से बनारस धर्मगुरुओं और आध्यात्मिक चिंतकों की शरणस्थली रहा है। यह नगर केवल तीर्थस्थल नहीं बल्कि विचारों, भक्ति-आंदोलनों और सांस्कृतिक नवाचारों का केन्द्र रहा है। तुलसीदास ने यहाँ रामचरितमानस के माध्यम से भाषिक और धार्मिक पुनरुत्थान में योगदान दिया। उनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य और लोकभक्ति को नया आयाम दे गईं। कबीर की सादगी और सामाजिक समालोचना ने बनारस में ही शुद्ध रूप पाई। उनके दोहों ने जाति और पंथ की दीवारों को तोड़कर आम जन तक संदेश पहुँचाया। सूफी और इस्लामी संगीत परम्पराओं का भी बनारस में गहरा प्रभाव रहा। बिस्मिल्लाह खान जैसे शास्त्रीय कलाकारों ने शहर की सांस्कृतिक सीमाओं को पार कर देशभर में शहनाई की धुन से भारतीय संगीत की पहचान को सशक्त और उत्सवधर्मिता को जीवंत किया।

यहां की बहुधार्मिकता ही बनारस की सबसे बड़ी शक्ति रही है। हिन्दू, इस्लाम, सिख और जैन परम्पराओं का घनिष्ठ सांस्कृतिक संवाद यहाँ सदियों से चलता आया है। घाटों पर हो रही आरती से लेकर दरगाहों की महफिलों तक, हर रूप-प्रतिमा ने पारस्परिक संवेदनशीलता को पोषित किया। इसने साहित्य, संगीत, नाट्य और कला के क्षेत्र में नवीन प्रयोगों को जन्म दिया और लोकजीवन में गहरी छाप छोड़ी।

सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण में परम्परागत कारीगरों, मठ-मंदिरों और शिक्षण संस्थानों की भूमिका अनिवार्य रही है। बनारसी वस्त्र, संगीत, हस्तशिल्प और धार्मिक साहित्य यही विरासत हैं जिन्हें आधुनिकता के दबाव में संरक्षित रखना किसी भी सत्ता के लिए चुनौतीपूर्ण है। सांस्कृतिक दृष्टि से बनारस की पहचान बहुआयामी है। यहाँ की संगीत परंपरा (खासतौर पर ठुमरी और ध्रुपद), वास्तुकला में बनारसी घराने की विशिष्टता, और बनारसी वस्त्रों का बुनकर-जीवन, ये सभी ऐसे तत्व हैं जो वाराणसी की सामाजिक जड़ों को मजबूती प्रदान करते हैं। बहुसांस्कृतिक सह-अस्तित्व और संवाद को बनाये रखना भी उतना ही आवश्यक है। यही बनारस को देश भर में एक अद्वितीय आध्यात्मिक और सांस्कृतिक केंद्र बनाता है।

वाराणसी इन दिनों संक्रमणकाल से गुजर रहा है। पहले बदलाव की गति धीमी रहती थी लेकिन अभी पुरातन और आधुनिकता के संगम की गति तेज हो गई है। बदलती आर्थिक संरचनाएँ, और तीव्र शहरी विकास की चुनौतियाँ इस घड़ी की कठिन परीक्षा है। इस परिवर्तन में शहर के धर्म, संस्कृति और जीवनशैली के अनेक आयाम प्रभावित हो रहे हैं। इसके बावजूद संभावना बनी हुई है कि शासन-नागरिक सहयोग, संगठित शहरी योजनाएँ और सांस्कृतिक संवेदनशीलता से वाराणसी का नया स्वरूप न सिर्फ समृद्ध हो सकता है, बल्कि आने वाले पर्यटकों और नागरिकों के लिए सुकूनदेह भी बन सकता है।

वाराणसी को नई पहचान देने के लिए योजना बनाते समय स्थानीय समुदाय की भागीदारी, पारम्परिक वास्तुकला का सम्मान और सतत पर्यटन नीतियाँ अपनानी चाहिए ताकि विकास का लाभ व्यापक और दीर्घकालिक हो। हर विकास परियोजना में पर्यावरणीय संतुलन और तीर्थ-पर्यटक अनुभव का ध्यान रखा जाना चाहिए। यदि ये मुलभूत सिद्धांत लागू हों, तो वाराणसी का नया स्वरूप न केवल भौतिक रूप से समृद्ध होगा बल्कि सांस्कृतिक और समाजिक दृष्टि से भी सुकूनदेह और टिकाऊ रहेगा। ऐसे में आशा करनी चाहिए कि यह पवित्र नगर अपने मौलिक चरित्र को सँजोते हुए आधुनिकता के साथ सामंजस्य स्थापित करेगा।

मैं स्वयं इस नगर का दीर्घकालिक निवासी नहीं हूँ। बचपन से ही बनारस के घाटों, मंदिरों और लोकजीवन ने मुझे बार-बार आकर्षित किया है। उन संक्षिप्त यात्राओं में मैंने देखा कि कैसे एक ही जगह पर आनन्द, शोक, आराधना और विद्रोह नदी के तट पर साथ-साथ बहते हैं। बनारस पर लिखी किताबों, प्राचीन ग्रन्थों से लेकर समकालीन अध्ययन तक ने काशी को विभिन्न दृष्टियों से प्रस्तुत किया है। कहना ठीक होगा कि हर लेखक की छाप पाठक पर ही तय करती है कि वह कितना सफल हुआ। मेरी व्यक्तिगत यात्राएँ और ऐतिहासिक उत्सुकता इस शहर के प्रति दीर्घकालिक लगाव का कारण हैं। इसी लगाव ने मुझे काशी पर लिखने के लिए प्रेरित किया है।

आभार

इस पुस्तक के लेखन के दौरान अपने परिवार, मित्रों और शुभचिंतकों से मिलने वाले सहयोग का उल्लेख जरूरी है। माता-पिता सकलदेव शुक्ल और राजदुलारी शुक्ल ने जीवन में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। पत्नी श्वेता और बेटे वरुण शुक्ल के सहयोग के बगैर इस पुस्तक का प्रकाशन संभव नहीं हो पाता। बड़े भाई राकेश शुक्ल और भाभी वर्षा भारद्वाज के अलावा पंकज राग, वंदना राग, किंशुक, विनय और विवेक तिवारी जैसे परिवार के अन्य सदस्यों का निरंतर मार्गदर्शन और सहयोग मिला। चाचा प्रभात कुमार शुक्ल ने हर मौके पर साथ उत्साह बढ़ाया। अरुण सिन्हा, किरण और आयुष सिन्हा और अजय कुमार के सहयोग का आभारी हूं। परिवार से ही जुड़े पुष्पा सिन्हा, संतोष सिन्हा, सुनीति सिंह, सीमा ठाकुर, सुप्रीति सिन्हा, राकेश कुमार ने हर अवसर पर उत्साह बढ़ाया।

विवेक प्रसाद, पल्लवी प्रसाद, देवेन्द्र कुमार, कबिता वर्णवाल, नारायण प्रभात रंजन, अर्चना, रंजीव,दीपा, संजीव कुमार, गुंजिता, विश्वमोहन, श्वेता, मनोज कुमार, किशोर, मृत्युंजय कुमार,(भुवनेश्वर), डॉक्टर राकेश ठाकुर,(कनाडा) डॉक्टर अरविंद कुमार,ज्ञान प्रकाश नारायण(पोलैंड), सत्येन्द्र नारायण सिंह, सिद्धार्थ शेखर, प्रीति,(मुक्तेश्वर),सुमित सिंह (ह्यूस्टन, अमोरिका),आनंद प्रधान, भास्कर त्रिवेदी और राकेश मिश्रा(हाजीपुर) सभी ने सदैव मनोबल बनाए रखा।

इसके अलावा, पतरातू के अन्य मित्रों ने भी समय-समय पर प्रोत्साहित करने में कोई कमी नहीं की। इनमें अमृत प्रसाद (रांची), ममता,सुधा, इंदु सिन्हा, रंजना, अमृता, अशोक सर्राफ,अभय दुबे, सत्येन्द्र पांडे, शशिकांत पंजियारा(बहरीन),सूरज, मनोज, विजय मेवाड़, मधुकांत, जयंत, आभाष पाठक,अखिलेश और अमरेश द्विवेदी, अतुल, अनुज द्विवेदी,अजय यादव, मनोज झा (आगरा), फैसल वली (कुवैत) ने हरसंभव सहयोग किया।

पत्रकार मित्र निधीश त्यागी, अमिताभ, पम्मी, जयप्रकाश पांडे, कुणाल, कपिल शर्मा, हेमंत, गुलविश, अमित चौधरी, प्रतीक त्रिवेदी, शानिर सिद्धिकी,अनिल और सतीश बाल्यान (दुबई), सैय्यद फैय्याज (लंदन), प्रमोद कुमार सिंह, सुधाकर हर मौके पर साथ देते रहे। बड़े भाई की तरह स्नेह बनाए रखने वाले अखिलेश कुमार राय, भाभी नीता राय (बलिया), सतीश कुमार वर्मा (पटना), संजय कुमार (देवघर), मधुकर (वाराणसी) समेत अनेक दोस्तों और पारिवारिक मित्रों ने जो सहयोग किया, उसे आजीवन नहीं भूल सकता।

सभी का बहुत धन्यवाद।

अनुक्रमणिका

गलियों वाली वाराणसी इतिहास,बनावट और जीवन 1

वाराणसी : चुस्कियों और चाशनी का शहर 8

सारनाथ को विश्व धरोहर का दर्जा 17

काशी विश्वनाथ मंदिर और कॉरिडोर 27

दालमंडी : 'डॉल मार्केट ' से कॉरिडोर तक की कहानी 33

जेम्स प्रिंसेप और जोनाथन डंकन का बनारस 43

अघोरपंथ का रहस्य और भक्ति की परंपरा 52

काशी की विद्रोह परंपरा और नवजागरण 59

वाराणसी के बुनकरों का संकट और भविष्य 64

विदेशी लेखकों, पर्यटकों और शोधकर्ताओं की नजर में बनारस.....70

गलियों वाली वाराणसी
इतिहास , बनावट और जीवन

सदियों से वाराणसी को घाटों और गलियों का शहर माना जाता रहा है। वाराणसी या काशी की गलियों में घूमते हुए किसी पर्यटक या शहर से अनजान शख्स के लिए अपना ठिकाना ढूंढना आसान काम नहीं है। वाराणसी की पुरानी तहजीब और पहचान में उसकी संकरी गलियाँ मुख्य भूमिका निभाती हैं। ये गलियाँ सिर्फ लोगों के आने-जाने के लिए नहीं, बल्कि धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक सक्रियताओं के छोटे-छोटे कालखंड का हिस्सा मानी जा सकती हैं। वाराणसी सदियों से धर्म, तप और व्यापार के इर्द-गिर्द विकसित हुआ है। मंदिरों, घाटों और मठों के आस-पास घर तथा कुटुम्बी संरचनाएँ लगातार मजबूत होती रही हैं । इसके परिणामस्वरूप गलियां शहर की पहचान बन गईं।

वाराणसी को केवल घाटों और मंदिरों का शहर कहना उसकी पूरी पहचान को समेटना होगा। यह नगर उतना ही अपनी संकरी, घुमावदार और बहुस्तरीय गलियों के लिए जाना जाता है, जितना अपनी गंगा-सभ्यता, धार्मिक अनुष्ठानों और सांस्कृतिक निरंतरता के लिए। पुराने काशी क्षेत्र की गलियाँ शहर की मात्र भौगोलिक संरचना नहीं, उसके सामाजिक जीवन, व्यापार, स्मृति और आस्था की जीवित इकाइयाँ हैं। काशी को भव्य, दिव्य और नव्य काशी बनाने की प्रक्रिया में इसका भूगोल बदल रहा है। यहां के स्थानीय लोगों में काशी में संरचनात्मक बदलाव को लेकर अलग-अलग राय है।

कुछ बनारसी सड़कों के चौड़ीकरण, नई इमारतें, मार्डन बाजार और ट्रैफिक जाम को दूर करने के लिए इस बदलाव से खुश हैं। कई लोग ऐसे भी हैं जो मानते हैं कि इस आमूल बदलाव की काशी को जरूरत नहीं थी। उनके मुताबिक काशी हजारों वर्षों से नव्य और दिव्य रही है। आज जिस तरह से आमूल बदलाव हो रहे हैं उससे शहर की प्राचीन संस्कृति पर प्रहार हो रहे हैं। पहले मोदी सरकार की ओर से गंगा नदी की सफाई को लेकर बड़े

वादे किए गए थे लेकिन अब गंगा का जल पीने लायक भी नहीं रह गया है। गगा नदी में लोग स्नान भी नहीं कर सकते। एक अनुमान के मुताबिक, नमामी गंगे के नाम पर करीब 42 हजार करोड़ रुपये खर्च किए गए। इस सफाई की हालत ये है कि एनजीटी ने खुद भी मान लिया है कि गंगा जल अब ना पीने लायक है और ना नहाने लायक। गंगा जल का आचमन करना तो दूर की बात है। फिर भी, धार्मिक विश्वास इतना गहरा है कि गंगा में स्नान किए बगैर लोगों को यहां की यात्रा अधूरी लगती है।

काशी में विश्वनाथ कॉरिडोर को लेकर भी काशी के स्थानीय लोगों की राय बंटी हुई है। कुछ लोग मानते हैं कि पहले काशी में बाबा विश्वनाथ के मंदिर में आकर जो आधात्मय मिलता था, उसे अब फूड प्लाजा बना दिया गया है। कुछ लोग तो यह भी सवाल उठा रहे हैं कि क्या बाबा विश्वनाथ फूड प्लाजा के भूखे थे? उसे पिकनिक स्पॉट क्यों बना दिया गया ? इस कॉरिडोर को लेकर सैंकड़ों प्रचीन मंदिरों को तोड़कर नाले में फेंक दिया गया ।

वाराणसी की पुरानी बसावट सदियों में विकसित हुई। विस्तार की सीमित जगह, धार्मिक केंद्रों के आसपास घरों और मोहल्लों का सघन होना, उत्तर-दक्षिण दिशा में किनारे बस्तियों का फैलाव, इन सबने मिलकर एक ऐसा शहरी ताना-बाना बनाया जिसमें चौड़ी सड़कों की जगह गलियों ने ले ली। यही कारण है कि पुराने बनारस में रास्ते अक्सर टेढ़े-मेढ़े, आपस में जुड़े हुए और बहुत संकरे दिखाई देते हैं।

इन गलियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे सिर्फ आने-जाने के रास्ते नहीं, बल्कि जीवन की छोटी-छोटी दुनिया हैं। कहीं कचौड़ी-लस्सी की दुकान, कहीं मंदिर की घंटियाँ, कहीं बुनकरों की आवाज़ें, कहीं पान-बीड़ी की गंध, तो कहीं किसी पूजा या बारात का दृश्य, सब कुछ वाराणसी की इन गलियों में समा जाता है।

वाराणसी की इन गलियों में रहने वाले लोगों की बात करें तो अलग-अलग गलियों में तमाम मुहल्ले हैं जिसमें भारत के तमाम राज्यों से आए लोग सदियों से बसे हुए हैं। इसे बोलचाल के रूप में "काशीवास" कहा जाता है। इस "अभिमुक्त" काशी में आने का तात्पर्य ही यही है कि इसे जीवन भर छोड़कर नहीं जाना है। अभिमुक्त के बारे में पौराणिक माहात्म्य में भगवान शिव कहते हैं, " जब मैंने इसको कभी छोड़ा नहीं है, ना तो इसे कभी छोड़कर

जाउंगा, तो यह जगह अभिमुक्त के रूप से जाना जाएगा।" अभिमुक्त का अर्थ ही है, कभी भी छोड़कर जाने वाला नहीं। काशी की माइथोलॉजी के मुताबिक इसी जगह पर सबसे पहले लिंग की स्थापना की गई थी। इसी जगह पर भगवान शिव की सदैव मौजूदगी की वजह से काशी को हमेशा पूजनीय माना गया है। मान्यता है कि इस शहर की रक्षा के लिए भगवान शिव ने इसे अपने त्रिशूल पर टिका रखा है। इससे काशी हमेशा सुरक्षित रही है।

सदियों से देश के तमाम भागों से आकर यहां लोग बसते रहे हैं। एक अनुमान के मुताबिक, काफी पहले तमिलनाडु (मद्रास) से आए लोगों की काफी संख्या हनुमान घाट इलाके में है। पश्चिम बंगाल से आए लोगों ने बंगाली टोला बसाया। इसी तरह महाराष्ट्र से आए ज्यादातर लोग रामघाट और पंचगंगा घाट इलाके में बसे। इनमें से काफी लोग ऐसे थे जो कामकाज के बाद रिटायर होकर जीवन के आखिरी समय में इसी पवित्र शहर में भगवान शिव की भक्ति में डूबकर अपना बाकी जीवन काटना चाहते थे। इस इलाके में रहने वाली कुछ विधवा महिलाएं भी हैं जो मंदिरों, मठों या धार्मिक संस्थाओं से मिलने वाले भोजन या दूसरे अमुदान पर आश्रित होकर अपने जीवन का निर्वाह करती हैं। इन काशीवासियों से अलग कुछ ऐसे लोग भी हैं जो जीवन के आखिरी दौर में काशी पहुंचते हैं। इसे "काशी लाभ" कहा जाता है। उनका ठिकाना बनता है गोदौलिया चौराहे के पास स्थित "काशी लाभ मुक्ति भवन।" उनकी मान्यता है कि यहां मरने के बाद शांति मिल सकती है। उनके मुताबिक जितना जरूरी बेहतर और सुकून भरा जीवन है, उतना ही जरूरी सुकून भरी मौत होनी चाहिए। (1)

गली-व्यवस्था ने वाराणसी को एक विशिष्ट सामाजिक चरित्र दिया है। यहाँ मोहल्ले केवल प्रशासनिक इकाइयाँ नहीं, बल्कि पहचान, रिश्तेदारी, पेशे और सामुदायिक जीवन की इकाइयाँ हैं। कई गलियों के नाम उनके पुराने पेशों, धार्मिक संदर्भों, वृक्षों, स्थानीय स्मृतियों या किसी विशेष घटना से जुड़े हैं। यह नामकरण परंपरा शहर की लोक-स्मृति को सुरक्षित रखती है और उसके सांस्कृतिक भूगोल को अलग अर्थ देती है।

धार्मिक दृष्टि से भी गलियाँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। पुराने काशी क्षेत्र में अनेक छोटे-बड़े मंदिर, मठ, देवालय और पूजा-स्थल इन्हीं गलियों में स्थित हैं। तीर्थयात्रियों के लिए गली

सिर्फ मार्ग नहीं, अनुभव है। एक गली से दूसरी गली तक जाते हुए श्रद्धालु केवल स्थान नहीं बदलता, बल्कि वह धार्मिक वातावरण, ध्वनि, गंध और दृश्य-भाषा के भीतर आगे बढ़ता है।

वाराणसी की गलियों की एक और खासियत उनकी अर्थव्यवस्था है। ये गलियाँ छोटे व्यापार, पारंपरिक शिल्प, घरेलू उद्योग, तीर्थ-सेवा, भोजन-व्यवसाय और स्थानीय विनिमय के आधार हैं। बुनकर, पानवाले, मिठाईवाले, फूलवाले, पुरोहित, नाविक से लेकर छोटे दुकानदार तक, इन सभी की जीवन-धाराएँ इन्हीं संकरे रास्तों से जुड़ी हैं। इस अर्थ में गलियाँ शहर की अनौपचारिक अर्थव्यवस्था को भी चलाती हैं।

प्राचीन और मध्यकालीन समय में वाराणसी में नियोजन का अभाव और धार्मिक भूगोल (मंदिर, कुएँ, घाट) ने घाटों से जोड़ने वाली सड़कों को घुमावदार और संकरा बना डाला। ऐसा माना जाता है कि संकरी गलियों से नगर की सुरक्षा की दृष्टि से भी फायदा पहुंचता था । चौड़ी सड़कों के अभाव में आक्रामक सेनाओं या घुड़सवारों की गति बाधित होती थी। इन गलियों में घुसकर लूटपाट और हमला करना किसी के लिए भी आसान नहीं होता। अंग्रेजी हुकूमत के दौरान गलियों की सफाई और नालियों के निर्माण के बाद यातायात सुगम हो पाया। इसके उल्लेख कई पुराने दस्तावेजों और सरकारी आंकड़ों में मिलते हैं।

पुराने बनारस का नेटवर्क छोट-छोटे आवासीय भूखण्डों, नुक्कड़-मंदिरों, आंगनों और दुकानों का घना ताना-बाना माना जाता है। गंगा घाटों से थोड़ी ऊँचाई पर बने मकान, कई मंज़िलों पर फैले छोटे आँगन और रास्तों के दोनों ओर जुड़े व्यावसायिक ठिकाने, गलियों को और भी अधिक संकरा बना देते हैं। मकानों के निर्माण सामग्री में ईंट-मिट्टी, पत्थर और लकड़ी का पारंपरिक प्रयोग दिखता है। दीवारों पर नक्काशी, जालीदार खिड़कियों और बरामदों की वजह से प्रकाश सीमित पर अनुकूल वातावरण बना रहता है। बिजली और टेलीफोन की तारें ऊपर-ऊपर गुज़री रहती हैं। इन सबकी स्थिति को देखकर भी इस प्राचीन शहर की जटिलता और गहनता का अँदाजा लगाया जा सकता है।

वाराणसी की तंग गलियां सामाजिक जीवन की बेहतरीन तस्वीर पेश करती हैं । शादी-समारोह, पूजा-झांकियाँ, छोटी-छोटी मंडलियाँ, चाय-ठेले, मिठाई और कारीगरी

की दुकानें सभी इन्हीं गलियों में समाए हुई हैं। घरों के सामने बैठकर होने वाली बातचीत, बच्चों के खेल, स्थानीय त्योहारों की झलकियां और धार्मिक अनुष्ठानों की निरंतरता इन गलियों को जीवंत रखती है। बनारसी परंपरागत शिल्प, भोजन-संस्कृति (कचौड़ी, लस्सी, मलइयो) और लोकसंगीत भी इन गल्लियों (गलियों) से जुड़े हैं। यहाँ का रोज़मर्रा जीवन बनारसी संस्कृति का प्रयोगिक रूप माना जा सकता है।

बीसवीं सदी के शुरूआत तक बनारस गलियों का ही प्राचीन शहर माना जाता था। बनारस में मुख्य जगहों पर जो सड़कें थीं उसके किनारे सैकड़ों नालियां मौजूद थीं। सड़कों पर पैदल चलने वाले लोगों के लिए उंची पटरियां कहीं चार तो कहीं आठ फुट चौड़ी थीं। बारिश के दिनों में पानी सड़कों पर भरने की समस्या को देखते हुए सड़कों के किनारे बनी दुकानें पटरी से तीन से चार फुट उंची बनाई जाती थीं। बीसवां सदी के शुरुआती दिनों में बनारस में संभवत इक्का और पालकी ही वाहन थे। शहर के रईस लोग बग्घी, फिटन या पुरानी विक्टोरिया गाड़ियों का इस्तेमाल करते थे। माना जाता है कि वाराणसी में सन 1940 तक हाथ के रिक्शों का चलन था। जब साइकिल रिक्शा का प्रयोग बढ़ा तो तांगे सड़कों पर दिखना बंद हो गए। कारों की संख्या बढ़ी तो बग्घी, टमटम, फिटन और विक्टोरिया सड़कों से नदारत हो गए। (2)

वाराणसी जैसे शहर की गलियों में छोटी-छोटी दुकानें, कार्यशालाएँ और ठेले स्थानीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ मानी जाती हैं। पारिवारिक उद्यम, बुनकरों की इकाइयाँ और मंदिरों से जुड़ा तीर्थ-व्यापार इन मार्गों पर निर्भर रहता है। इन गलियों में 'अनौपचारिक अर्थव्यवस्था' का दायरा बड़ा है। घरों को होमस्टे बनाकर किराये पर कमरे, अस्थायी स्टॉल, घाटों के दर्शन के लिए घरों की छतों पर पर्यटकों को मिले वाली सुविधाएँ, यही शहर की जीवंतता और चुनौतियाँ दोनों मानी जा सकती हैं।

यही गलियाँ आज शहरी संकटों का भी सामना कर रही हैं। पुरानी नालियाँ, सीमित जलनिकासी, भीड़, कचरा प्रबंधन की कठिनाइयाँ और आपातकालीन सेवाओं की पहुँच जैसी समस्याएँ इन संकरी सड़कों को और जटिल बनाती हैं। स्मार्ट सिटी और पुनरुद्धार परियोजनाओं के तहत कुछ गलियों में सुधार का प्रयास हुआ है, लेकिन ऐतिहासिक संरचना को बचाते हुए बुनियादी ढाँचा सुधारना अब भी एक बड़ी चुनौती है।

संकरी गलियाँ पानी, नाली और कचरे के प्रबंधन में समस्याएँ खड़ी करती हैं। आपातकालीन सेवाओं (अम्बुलेंस/दमकल) का पहुंचना मुश्किल होता है। कचरा संचयन और सफाई का अभाव बीमारी-जोखिम को बढ़ाता है। असंख्य बिजली के खंबे और केबल नेटवर्क सुरक्षा जोखिम पैदा करते हैं। पर्यटन और लोक-संकुलन के कारण शहरी दबाव और संसाधन सीमित हो जाते हैं।

वाराणसी में साफ-सफाई, सीवरेज, ट्रैफिक प्रबंधन और सार्वजनिक परिवहन में सुधार से न केवल जीवनस्तर ऊँचा होगा बल्कि धार्मिक स्थलों और धरोहरों की रक्षा भी सुनिश्चित होगी। इसके साथ ही, स्थानीय कारीगरों, विशेषकर बनारसी बुनकरों को संरक्षण व आर्थिक समायोजन की आवश्यकता है। यदि वैकल्पिक बाज़ार, कौशल संवर्धन और ब्रांडिंग पर ध्यान दिया जाए तो उनकी जीविका मजबूत रहेगी और सांस्कृतिक विरासत बची रहेगी। सवाल सामाजिक एकता का भी है। विविध धार्मिक परंपराओं और साझा त्योहारों के माध्यम से वाराणसी में साम्प्रदायिक सौहार्द को बनाए रखना संभव है। बनारस की गलियों को संरक्षित करते हुए सुधार के लिए कम हस्तक्षेप वाला संरक्षण, ऐतिहासिक बनावट और पैमाने को बनाये रखने के लिए नये निर्माण को मौजूदा रूप के अनुरूप सीमित करना जरूरी माना जा रहा है। बेहतर नाली, जल निकासी, गली-स्तर पर कचरा प्रबंधन और गली-रोशनी के उपाय बेहतर प्रबंधन कर सकते हैं। आपात-सेवाओं के लिए संकरे हिस्सों में हल्के मोबाइल उपकरण/इलेक्ट्रिक गाड़ियाँ और मानचित्रण-आधारित मार्गनिर्देशन बहुमूल्य और कारगर साबित हो सकते हैं। एक ओर पर्यटन और धार्मिक आवागमन इन गलियों की जीवंतता बनाए रखते हैं, दूसरी ओर अत्यधिक भीड़, वाहनों का दबाव और अव्यवस्थित निर्माण इनके मूल स्वरूप को प्रभावित करते हैं। वाराणसी की गलियों के लिए विकास का अर्थ केवल चौड़ीकरण नहीं हो सकता; उसे संरक्षण, स्वच्छता, न्यूनतम हस्तक्षेप और स्थानीय जीवन की रक्षा के साथ जोड़ना होगा।

वाराणसी की गलियों का अध्ययन वस्तुतः भारत के एक प्राचीन नगर के सामाजिक इतिहास का अध्ययन है। यहाँ शहरी योजना किताबों से अधिक परंपरा, आवश्यकता और धार्मिक जीवन से बनी। इन गलियों में शहर का अतीत भी है, वर्तमान भी, और भविष्य

की सबसे बड़ी बहस भी। यदि बनारस की आत्मा को समझना है, तो पहले उसकी गलियों को समझना होगा

वाराणसी की बसावट गंगा, वरुणा और अस्सी की भौगोलिक संरचना, धार्मिक केंद्रों और प्राचीन व्यापारिक संपर्कों से बनी है। साथ ही पंचकोसी परिक्रमा और पुराने नगर-क्षेत्र की धार्मिक सीमा इसकी शहरी पहचान तय करती है। वाराणसी की ऐतिहासिक बसावट बहुत पुराने समय में गंगा के पश्चिमी तट पर ऊँचे और अपेक्षाकृत सुरक्षित भू-भाग पर विकसित हुई। यह स्थान बाढ़ से कुछ हद तक बचाव देता था। नदी-मार्ग के कारण व्यापार, आवागमन और तीर्थ-यात्रा के लिए भी अनुकूल था। प्राचीन वर्णनों में इसे एक धार्मिक और व्यापारिक केंद्र के रूप में देखा गया है, जहाँ नगर का विकास केवल राजकीय योजना से नहीं, बल्कि निरंतर मानवीय बसावट, मंदिर-परंपरा, घाटों और बाजारों के विस्तार से हुआ।

पुराने शहर की शहरी बनावट "ग्रिड" जैसी नहीं रही, बल्कि प्राकृतिक, धार्मिक और सामाजिक जरूरतों से बनी जटिल संरचना रही। इसी कारण गलियाँ टेढ़ी-मेढ़ी, संकरी और परस्पर जुड़ी हुई बनीं। मोहल्ले छोटे-छोटे सघन आवासीय खंडों के रूप में विकसित हुए। आधुनिक समय में भी पुराना वाराणसी, यानी हेरिटेड सिटी अपनी ऐतिहासिक गलियों, मिश्रित भूमि-उपयोग और घनी बसावट के कारण अलग पहचान बनाए हुए है।

शहरी विकास के स्तर पर वाराणसी का विस्तार पुराने धार्मिक केंद्र से बाहर की ओर धीरे-धीरे हुआ। नदी-तट, मंदिर-परिसर, बाजार, पक्के मकान, सराय, धर्मशालाएँ और कारीगर बस्तियाँ मिलकर ऐसे क्षेत्र बनाते गए जहाँ आवास और काम एक ही स्थान पर घुले-मिले रहे। इसलिए वाराणसी में शहरी विकास को केवल आधुनिक सड़कों और भवनों से नहीं, बल्कि ऐतिहासिक परतों के संचय के रूप में पढ़ना अधिक उचित होगा।—

संदर्भ-

1) डायना एल ऐक, बनारस सिटी आफ लाइट, पेज नंबर 329, (प्रकाशन वर्ष 1983)

2) धर्मशील चतुर्वेदी, बीसवीं सदी: आधा बनारस, आधी वाराणसी, (पेज156) (प्रकाशन वर्ष 2006)

वाराणसी : चुस्कियों और चाशनी का शहर

भोर होते ही बनारस उठ जाता है। घाटों पर धुआँ-सा नहीं, गुनगुनाहट और पूजा की सुगंधित खुशबू फैलती है। जब आप अस्सी से लेकर दशाश्वमेध तक पाँव रखते हैं, शहर पहले ही अपना सुबह का पन्ना पलट चुका होता है । बनारसी नाश्ते की खुशबू गलियों में इतनी घुली रहती है कि दूर से ही आपको बुला लेती है। कचौड़ी-चने की तीखी खुशबू, जलेबी की मीठी चाशनी का शोर, तले हुए समोसे की कुरकुराहट, यह सब कुछ बनारस के सुबह की उत्सवधर्मिता का हिस्सा हैं।

वाराणसी में लोग स्वादिष्ट और शाकाहारी भोजन पसंद करते हैं। यहां के चाट-टिक्की, समोसा, दही-जिलेबी जब बड़े औद्योगिक घरानों की शादियों और उत्सवों में परोसे जाने लगे तो खुद यहां के लोगों को भी आश्चर्यमिश्रित खुशी हुई। ज्यादातर पर्यटक यहां आने से पहले ही तय कर लेते हैं कि अपनी यात्रा के दौरान जमकर कचौड़ी-चाट का आनंद उठाना है। यहां का खान-पान बहुत प्रसिद्ध और विविधतापूर्ण है। वाराणसी में किसी भी फूड स्टॉल या दुकान-रेस्टोरेन्ट में चले जाइए, ग्राहकों की लाइन लगी रहती है। सुबह के नाश्ते में कचौड़ी-सब्ज़ी और जलेबी बहुत लोकप्रिय हैं। दिन में चाट, समोसा, दही-जलेबी और लस्सी का भी खूब आनंद लिया जाता है।

बनारस का स्वाद के बारे में माना जाता है कि यह तीखा, मीठा और थोड़ा चटपटा होता है। सुबह की कचौड़ी-सब्ज़ी से शुरुआत, टमाटर की चाट की बेताबी, मिट्टी के कुल्हड़ों वाली मलाईदार लस्सी और सर्दियों में मिलने वाली मलइयो की फुकारें, अंत हमेशा एक पान के साथ खत्म करने का रिवाज है। ये व्यंजन सिर्फ पेट को नहीं भरते; ये किस्सों, बातचीतों और छतों के नीचे निकली छोटी-छोटी खुशियों को भी समेटते हैं।

अगर सर्दियों में बनारस आएं तो यहां की सुबहें जब घने कोहरे के साथ ओस धरती पर बैठती है। इस मौके पर बनारस के कुछ खास कोनों में जैसे जादू हो जाता है। सर्द सुबहों

में कुल्हड़ में परोसी गई पीली मलइयो, पहली चुटकी में घुलकर ठंडी-मीठी स्मृतियों की परत खोल देती है। विदेशी पर्यटक भी सर्दियों में यही स्वाद लेने आते हैं। असली मज़ा तो उन लोगों का है जो सुबह-सुबह उन गलियों में पहुंचकर झाग को चखते हैं। मलइयो की दुकानों की कतारें धुंध में सजी हुई दिखती हैं। मलइयो न सिर्फ स्वाद बल्कि बनारस की शीतल सुबहों का दस्तावेज़ है।

मलइयो यहां की सबसे प्रसिद्ध मिठाइयों में शामिल है जो सिर्फ तीन से चार महीने के लिए उपलब्ध (नवंबर से फरवरी) होती है। इसे बनाने के लिए सर्दियों की सुबहों में जमी ओस की बूंदों का उपयोग होता है। इसका रंग पीला होता है और यह मुंह में रखते ही घुल जाती है। **यह दिव्य मिठास** झाग के रूप में कुल्हड़ में परोसी जाती है। यह सेहत के लिए फायदेमंद है । कुछ बनारसी यह दावा करते नहीं थकते कि यह आंखों की रोशनी भी बढ़ाती है। सच क्या है यह किसी को पता नहीं लेकिन स्वाद बेजोड़ है।

मलइयो तैयार करने की पारंपरिक विधि में ओस की भूमिका अहम होती है। इसके लिए सबसे पहले कच्चे दूध को बड़े कड़ाहों में खौलाया जाता है। इसके बाद उबले दूध को रात भर खुले आसमान में रख दिया जाता है ताकि ओस पड़ सके। पूरी रात पूस/ओस की बूंदें पड़ने की वजह से दूध में झाग बन जाता है। भोर होते ही दूध को मथनी से मथा जाता है। उसके बाद झाग में चीनी, केसर, पिस्ता, मेवा, इलायची मिलाकर मलइयो तैयार होती है।

वाराणसी की प्रसिद्ध मिठाइयों में मलइयो, पेड़ा, रबड़ी, जलेबी, कलाकंद, बरफी, गुझिया और लड्डू शामिल हैं। वाराणसी का भोजन और मिठाइयाँ उसकी संस्कृति और परंपरा की पहचान हैं। यही कारण है कि वाराणसी को स्वाद और परंपरा का शहर भी कहा जाता है। वाराणसी का भोजन सिर्फ स्वाद नहीं, बल्कि उसकी संस्कृति और दिनचर्या का भी हिस्सा है। अगर आप वाराणसी जाएँ, तो सुबह कचौड़ी-जलेबी और सर्दियों में मलइयो ज़रूर चखना चाहिए ।

नदेसर इलाके में श्रीराम भंडार वाराणसी की 100 साल पुरानी ऐतिहासिक दुकान है जो पिछले 100 वर्षों से नाश्ते का स्वाद रच रही है । इसके खुलने का समय सुबह सात बजे है जो रात दस बजे तक ग्राहकों को उनका मनपसंद नाश्ता परोस रही है। सुबह से शाम

तक यहां ग्राहकों की भीड़ लगी रहती है। यदि आप कैंट से आ रहे हैं, तो नदेसर तक लगभग 5-10 मिनट का दूरी होगी। श्रीराम भंडार में टमाटर की चाट, कचौड़ी-शाक-खोया-जलेबी सबसे ज्यादा डिमांड में रहती है। नदेसर के श्रीराम भंडार की ओर से कचौड़ी-सब्जी और खोया-जलेबी की घूँघट जैसी परतें उठती हैं। ऐसी दुकानें सिर्फ पेट नहीं भरतीं, यादें भी बनाती हैं।

वाराणसी के अधिकांश स्थानीय व्यंजनों आपको बनारस के घाट या फिर घाट के पीछे बनी संकरी गलियों में मिल जाएंगे । प्रसिद्ध विश्वनाथ मंदिर को पार करते ही विश्वनाथ गली, कचौड़ी वाली गली में बदल जाती है, जो ताजा कचौड़ी चने और इमली की चटनी के साथ परोसा जाता है । यदि आप भीड़ से बचना चाहते हैं और ताज़ा गर्मा-गर्म कचौड़ियों का स्वाद लेना चाहते हैं तो सुबह सात बजे ही यहां पहुंचना पड़ेगा । ठठेरी बाजार में बच्चा पहलवान की दुकान में मलइयो की दुकान में केसर, पिस्ता और काजू से बनी मलइयो का अलग स्वाद है।

वाराणसी का खान-पान मुख्यतः शाकाहारी, स्वादिष्ट और दूध-आधारित है। यहाँ सुबह कचौड़ी-जलेबी, दिन में लस्सी, और शाम को चाट, समोसा, तथा पारंपरिक मिठाइयाँ बहुत लोकप्रिय हैं । वाराणसी में सुबह के नाश्ते में कचौड़ी-सब्ज़ी और जलेबी खूब खाई जाती है। वाराणसी में लस्सी, दही, और दूध से बने पेय/मिठाइयाँ बहुत पसंद की जाती हैं । यहाँ का भोजन स्वाद पर ज्यादा ध्यान देता है; परोसने में सादगी और स्थानीय अंदाज़ दिखता है । कई पारंपरिक व्यंजन जैसे बाटी-चोखा, कचौड़ी, और चाट शहर की पहचान हैं । यहां का पेड़ा जो दूध-खोया से बनी प्रसिद्ध मिठाई होती है वो भी लोगों में बेहद पसंद की जाती है। इसके अलावा, रबड़ी गाढ़े दूध से बनी समृद्ध मिठाई होती है। यहां की जलेबी कुरकुरी और चाशनी वाली होती है जो अक्सर दही के साथ भी खाई जाती है । गुझिया, लड्डू, कलाकंद, बरफी, लौंगलता भी वाराणसी की मिठाइयों में लोकप्रिय हैं ।

वाराणसी के अधिकांश स्थानीय व्यंजनों आपको बनारस के घाट या फिर घाट के पीछे बनी संकरी गलियों में मिल जाएंगे । यहां ब्लू लस्सी (विश्वनाथ गली) और शिव लस्सी भंडार (रामनगर) का स्वाद लिए बगैर लौटना संभव नहीं है। ब्लू लस्सी विश्वनाथ गली में

और शिव लस्सी भंडार रामनगर में सबसे प्रसिद्ध है। बिना झागदार लस्सी पिए वाराणसी की यात्रा को पूरा नहीं किया जा सकता। ब्रहमनाल के कुंज गली की ब्लू लस्सी दुनिया भर में फेमस है। ठठेरी बाजार में राजा राम जी की लस्सी पर भी ग्राहकों की भीड़ लगी रहती है।

वाराणसी के सुग्गा गली में स्थित राम भंडार दुकान में बड़ी कचौरी और आलू कचौड़ी के अलग दीवाने हैं। यहां के दुकानदार दावा करते हैं कि सन 1887 से उनकी दुकान कचौरी और सब्जी से स्वाद से लोगों को कचौरी का खास स्वाद परोस रहे हैं। इसी तरह ठठेरी बाजार के सोरा कुंआ इलाके में दीना गुरू गली में एक दुकानदार हींग की कचौरी परोस रहे हैं। उनका दावा है कि वो हींग की कचौरी बनाते हैं जो काले चने और चटनी के साथ ग्राहकों को परोस रहे हैं। पिछले 70 साल से घर के मसालों के साथ उनका कारोबार चल रहा है। शाम में सिर्फ चार बदे से छह बजे तक ही उनकी दुकान खुली रहती है और मिनटों में सारा सामान खत्म हो जाता है।

वाराणसी में पप्पू की अड़ी

बनारस केवल स्वाद का शहर नहीं; यह चाय की अड़ियों और बेमतलब बैठकों का भी शहर है। अस्सी के पास पप्पू की अड़ी सिर्फ चाय की दुकान नहीं, यह एक सांस्कृतिक संस्था है। यहां चुस्की लगती है और बहसें सुलझती हैं। यहां बुद्धिजीवी, राजनीतिक कार्यकर्ता, साहित्यकार और सामान्य लोग एक ही मेज पर बैठकर चाय पर विमर्श करते हैं।

काशी में एक पूरा भारत बसता है। यहां अलग अलग धर्म, जाति, क्षेत्र के लोग ही नहीं रहते बल्कि सभी राजनीतिक विचारधारा के लोगों को घाट की सीढ़ियों से लेकर चाय, पान की दुकान तक में बहस करते देखा जा सकता है। चाय की दुकानों पर लगने वाली इस बैठकी को अड़ी कहा जाता था। इस दुकान के सामने बोर्ड पर लिखा है: "भारत की राजनीति को दिशा देने वाला विश्वप्रसिद्ध पप्पू की अड़ी।

वाराणसी में पप्पू की अड़ी अस्सी घाट इलाके में स्थित है। चाय की दुकानों पर लगने वाली इस बैठकी को अड़ी कहा जाता है। यह एक चाय की दुकान/स्टॉल है जो चाय-

प्रेमियों और बुद्धिजीवियों के लिए एक प्रसिद्ध अड्डा है। पप्पू की अड़ी सिर्फ चाय की दुकान नहीं, बल्कि वाराणसी की सांस्कृतिक-राजनीतिक पहचान है। यहाँ चाय की चुस्की और गहरी चर्चा इसकी अनोखी खासियत है । यह वही स्थान है जहां से चायवाला के तौर पर चर्चित रहे प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने आम इंसान की तरह बैठकर चाय पी**। यह उपलब्धि इस अड़ी के लिए** गर्व की बात है। पीएम मोदी के दौरे के बाद यहाँ "मोदी स्पेशल चाय" का क्रेज बढ़ा है ।

यहां के प्रसिद्ध रचनाकार चकाचक बनारसी ने लिखा है, " इहां के विद्वानन के आगे, लाल होई ना गोटी तुलसी रामायन लिख गइलन, चकाचक खाके नून अउर रोटीई रजा काशी हौ!" चकाचक बनारसी हों या काशी नाथ सिंह या धूमिल, पप्पू की अड़ी से साहित्यकारों का गहरा नाता रहा है। यूं तो आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी भी यहां चाय पीने आते रहें। लेकिन अड़ी पर नियमित बैठने वालों में डॉक्टर शुकदेव सिंह, धूमिल और काशीनाथ ही रहे, जिनकी सोहबत में आकर कई साधारण अड़ी बाज भी काम भर साहित्यकार तो बन ही गए।

कभी पूरे बनारस में अड़ियों की संख्या करीब दर्जन भर थीं। पप्पू को छोड़कर बाकी या तो बंद हो गईं या उनका वो महत्व अब रहा नहीं। बनारस में जिन अड़ियों पर राजनैतिक विमर्श होता रहा है, उनमें गोदौलिया का डी रेस्टोरेंट, लंका का टंडन टी स्टॉल, नदेसर या फिर बेनिया की अड़ी। बाकी अड़ियों और पप्पू की अड़ी में एक बुनियादी फर्क था कि बाकि अड़ियों पर विचारधारा विशेष के लोग बैठते, लेकिन पप्पू के यहां सभी विचारधारा के लोग मिल जाते। पप्पू की अड़ी पर काशीनाथ सिंह और सुशील त्रिपाठी जैसे प्रगतिशील नियमित बैठते थे। काशी नाथ सिंह के प्रसिद्ध उपन्यास पर फिल्म " मोहल्ला अस्सी" भी बनी। डॉक्टर चंद्र प्रकाश द्विवेदी निर्देशित फिल्म के सभी किरदार इसी अड़ी पर बैठकी करने वाले लोग थे। फिल्म में 1990 के उत्तरार्ध में राम मंदिर आंदोलन और मंडल की राजनीति के दौर में यहां बैठने वाले प्रबुद्ध लोगों के राजनीतिक विमर्शों को फिल्म में दिखाया गया था। कइयों ने उपन्यास या फिल्म के माध्यम से इस अड़ी पर होने वाले राजनीतिक विचारधाराओं के विमर्श को देखा- सुना होगा। बावजूद इसके अस्सी

के उत्तरार्द्ध तक दक्षिण पंथी भी यहां हावी होने लगे। नब्बे की शुरुआत में तो अयोध्या आंदोलन समझने के लिए लोग या तो गांडीव अखबार पढतें या पप्पू के यहां चाय लड़ाते।

"काशी का अस्सी" काशीनाथ सिंह का एक बहुचर्चित उपन्यास है। इसमें बनारस के अस्सी मोहल्ले की रोज़मर्रा की ज़िंदगी, बोली-बानी, राजनीति, व्यंग्य और लोक-स्वभाव को बहुत जीवंत ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह रचना सिर्फ एक मोहल्ले की कहानी नहीं, बल्कि पूरे बनारस की सांस्कृतिक धड़कन का साहित्यिक दस्तावेज़ है। काशीनाथ सिंह ने इस पुस्तक में बनारस की उस दुनिया को पकड़ा है जहाँ चाय की दुकानों, घाटों, गलियों और चौपालों में जीवन अपने सबसे सहज रूप में दिखाई देता है। उनकी भाषा लोकजीवन से निकली हुई है। उसमें बनारसी ठाठ, हँसी, तंज़ और सामाजिक व्यंग्य की तीखी चमक मिलती है।

ये तथ्य भी अपने आप में कम दिलचस्प नहीं है कि वीपी सिंह को राजऋषि की उपाधि देने वाला स्थान यही पप्पू की अड़ी था। एक समय इस जगह पर जॉर्ज फर्नांडिस की प्रेस कॉन्फ्रेंस भी हो चुकी थी। इसके बाद समय बीत गए और यह अड़ी 2014 में पूरी तरह से भगवा रंग में रंग गया। मोदी को बनारस मॉडल के केंद्र में रखकर संघ की चुनाव लड़ने की रणनीति का भी इस अड़ी पर व्यापक असर हुआ। चाय की चर्चा की रूपरेखा तय करने वाले प्रशांत किशोर (पीके) ने भी इसका महत्व समझा और मोदी की चाय पर चर्चा की शुरुआत इसी अड़ी से हुई। अड़ी पर बैठने वाले बदलते रहें, चाय बनाने वाले भी बदलते रहें। लेकिन इस अड़ी पर चलने वाला विमर्श इस बदलाव के साथ अनवरत जारी है।

लेखक काशीनाथ सिंह का बनारस के साथ संबंध सिर्फ भौतिक नहीं, सांस्कृतिक और भावनात्मक है। उनकी रचनाएं बनारस की सरल, वास्तविक और अनमोल पहचान को संवारती हैं। उनकी आलोचना आधुनिकता की चपेट में आते इस शहर के चरित्र के नष्ट होने पर दर्द बयां करती है। अपनी पुस्तक काशी का अस्सी में पप्पू की अड़ी का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा है, " पप्पू की दुकान-पीने को महज चाय और भांग, पाने को सारी दुनिया। 8/20 फीट का दड़बा। लोहिया के जमाने से समाजवादियों का कॉफी हाउस था। यह आज भाजपाईयों का " अप्पूघर " है। कभी मधु लिमये, जार्ज और

राजनारायण जैसे लोग आते थे, आज राधेश्याम और देवव्रत चौबे जैसे बालकों की बहार रहती है। " (1)

काशीनाथ सिंह के लिए बनारस सिर्फ एक शहर नहीं, उनकी पहचान है। लेकिन वह अपने जीवन में बदलते बनारस से खासे दुखी थे। उनका कहना था, " लोगों ने बनारस को बर्बाद कर दिया है। ये मॉल और कॉलोनियों का मुहल्ला नहीं था। ये गलियों और मुहल्लों का मोहल्ला था। अस्सी को अब चौपाटी बना दिया गया है। ये बनारस नहीं था... ये हमारा बनारस नहीं है। वो हमारा बनारस था" । उनका मानना है कि बनारस के चरित्र को ब ष्ट किया जा रहा है ।अब बनारस में दिल्ली या किसी बड़े शहर में कोई फर्क नहीं रह गया है । "

वाराणसी की मिठाईयों और चाय की अड़ियों की चर्चा के बाद बनारस के पान की चर्चा ना हो तो यहां की सांस्कृतिक प्रसंग अधूरा लगने लगता है। इस शहर का पान भी एक अलग अध्याय है । पान के पत्तों पर शहर के रंग-रूप नाचे लगते हैं। दशाश्वमेध घाट के पास दीपक जी की पान दुकान से लेकर बीएचयू के पास केशव पान भंडार तक, बनारसी पान में ताजगी और पुदीने की वो अनुपम मात्रा होती है जो इसे खास बनाती है। पान का स्वाद, उसकी सुपारी की कसार, गुलकंद की मिठास और कत्थई चूने की तीखी परत — सब मिलकर शहर की कविता बनाते हैं।

वरिष्ठ लेखक हेमंत शर्मा अपनी पुस्तक देखो हमरी काशी में लिखते हैं, " बनारसियों का विश्वास है कि पान स्वर्ग में् नहीं मिलता, इसलिए जितना जमाना हो, यहीं जमा लीजिए। इस शहर में पान खाया नहीं, जमाया या घुलाया जाता है। पान घुलाते वक्त वह भगवान से भी बात नहीं करता है। बहुत जरूरी हुआ तो आसमान की तरफ मुंह कर कुछ बुदबुदा देगा। बनारसी पान से कितनी मुहब्बत करते हैं, यह इसी से पता चलता है कि जो बनारसी पान नहीं खाते, वो भी खाना खाने के बाद और निपटने (निवृत होने) से पहले पान जरूर खाते हैं। अचरज की बात है कि बनारस में पान की खेती नहीं होती। पान यहां पैदा नहीं होता, फिर भी बनारस का पान जगतप्रसिद्ध है।" (2)

बनारसी पान को अब जीआई टैग मिल गया है। बनारस का पान अकेला नहीं है बल्कि बनारसी लंगड़ा आम को भी जीआई टैग मिला है। तीन साल पहले जिन 33 चीज़ों को

जीआई टैग दिया गया है, उनमें 10 चीज़ें यूपी की हैं। इसके साथ यूपी के कुल जीआई टैग वाले उत्पादों की संख्या बढ़कर 45 हो गई है। इनमें 20 चीज़ें को वाराणसी से ही हैं।

अस्सी के दशक में पान को लेकर उत्तर भारत के तमाम लोगों के दिलों-दिमाग पर एक गाना चढ़ा हुआ था। उसके बोल थे, खईके पान बनारस वाला। सन 1978 में फिल्म डॉन का गाना गाना आज भी विस्मृत नहीं हुआ है। गाने के बोल अंजान ने लिखे थे और इसे किशोर कुमार ने गाया था। अभिनेता अमिताभ बच्चन के डबल रोल वाली इस फिल्म में इस गाने के बोल अमर हो गए। माना जाता है कि बनारस के एक गांव से मुंबई आए अंजान साहब ने यह गाना मूलत यह गाना देवानंद की फिल्म "बनारसी बाबू" के लिए तैयार किया था, लेकिन उन्होंने इसे उस फिल्म से हटवा दिया । बाद में फिल्म के निर्देशक चंद्र बरूट ने अमिताभ बच्चन की फिल्म डॉन में इस गाने को रखने के लिए कल्याणजी-आनंदजी से संपर्क किया था।

गाने को लेकर किशोर कुमार की रिकॉर्डिंग का किस्सा भी दिलचस्प है। शुरू में किशोर कुमार ने यह गाना गाने से मना कर दिया था, बाद में उन्होंने गाना गाया और गाना सुपरहिट साबित हुआ। कहा जाता है कि किशोर कुमार गाने में "पान" शब्द के साथ साउंड मिलाने के लिए रिकॉर्डिंग के दौरान पान अपने मुँह में रखकर गाया। यह 70 दशक के बॉलीवुड के आइकॉनिक गानों में एक है और आज भी कल्ट फ़ेवरेट है । यह गाना बनारस की गलियों से प्रभावित है और बनारस की फ्लेवर और स्पीरिट को ह्यूमोरस तरीके से सेलीब्रेट करता है।

बनारस के पान को लेकर कुछ कविताएं भी लिखी गई हैं। लेखक और कवि राहुल सिंह गौतम ने अपनी पुस्तक बनारसी पान में लिखा है,

पान के पत्तों पर नाचता, गुनगुनाता

शहर ए बनारस

जीवन की जटिलताओं को चूना लगाकर

फिर खुद उसमें कत्थई दांव लगाता शहर ए बनारस

कभी पतली तंग गलियों से गुजरता

कभी सुपारी की कतरनों से उलझता

कभी पूजा की थाल में सजता

कभी शादी के पंडाल में लरजता

मगही, देसी, गिलौरी से अपनी पहचान कराता

एक शहर...शहर ए बनारस (3)

वाराणसी के तमाम बाजारों और गलियों में पान मिल सकता है लेकिन दशाश्वमेध घाट के पास दीपक जी की पान दुकान सौम्य और स्वादिष्ट बनारसी पान के लिए जानी जाती है। वाराणसी के पान में पुदीने की मात्रा थोड़ी अधिक होती है, जो इसे दुनियाभर में मशहूर बनाता है। बीएचयू के पास केशव पान भंडार ठेठ बनारसी पान के लिए सबसे प्रसिद्ध है।

—----------

संदर्भ-

1) काशीनाथ सिंह,काशी का अस्सी, पेज नंबर--41 (राजकमल पेपरबैक्स)

2) हेमंत शर्मा, देखो हमरी काशी, पेज नंबर- 64 और 65 (प्रभात प्रकाशन)

3) राहुल सिंह गौतम,**बनारसी पान,**पेज 40 और 41**(ब्लू रोज प्रकाशन)**

सारनाथ को विश्व धरोहर का दर्जा

सदियों से सारनाथ बौद्ध शिक्षा और तीर्थयात्रा का एक प्रमुख केंद्र था। भगवान बुद्ध के पहले उपदेश को लेकर हजारों साल पहले दुनिया भर में चर्चा में आया सारनाथ को अब एक नई पहचान मिली है। वाराणसी स्थित प्राचीन बौद्ध स्थल सारनाथ को यूनेस्को की विश्व धरोहर सूची में शामिल कर लिया गया है। यह घोषणा दक्षिण कोरिया में चल रहे विश्व धरोहर समिति के 48वें सत्र के दौरान की गई। इस मान्यता से सारनाथ में अंतरराष्ट्रीय पर्यटन को नई गति मिलेगी। इसके अलावा, बौद्ध देशों के पर्यटकों की संख्या बढ़ने की उम्मीद है। इस सूची में शामिल होने के साथ ही भारत में अब विश्व धरोहर स्थलों की संख्या 45 हो गई है।

दक्षिण एशिया के लिए यूनेस्को क्षेत्रीय कार्यालय के निदेशक और प्रतिनिधि टिम कर्टिस ने इस बारे में एक बयान जारी करते हुए कहा," यूनेस्को की ओर से मैं भारत सरकार और भारत की जनता को प्राचीन बौद्ध स्थल सारनाथ को विश्व धरोहर सूची में शामिल किए जाने पर हार्दिक बधाई देता हूँ। 2500 वर्षों से अधिक समय से, सारनाथ विश्वभर के बौद्धों के लिए तीर्थयात्रा और प्रेरणा का केंद्र रहा है। यहीं पर बुद्ध ने अपना पहला उपदेश दिया था, जिसमें करुणा, ज्ञान और शांति की शिक्षाएँ दी गई थीं, जो आज भी प्रासंगिक हैं। इसके मंदिर, स्तूप और मठ सदियों पुरानी आस्था, भक्ति और साझा मानवीय विरासत के साक्षी हैं। इस अद्वितीय स्थल की रक्षा करना वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियों के प्रति हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है।"

विश्व के सबसे प्राचीन बसे शहरों में से एक वाराणसी में स्थित यह संपत्ति सारनाथ के स्थापत्य और पुरातात्विक अवशेषों को संरक्षित करती है। पवित्र बौद्ध ग्रंथों के अनुसार, बुद्ध ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व में ज्ञान प्राप्त करने के बाद सारनाथ की यात्रा की थी। यहीं पर उनकी मुलाकात अपने पहले शिष्यों से हुई और उन्होंने अपना पहला उपदेश दिया,

जिसे बौद्ध शिक्षाओं के प्रसार की शुरुआत माना जाता है। सारनाथ को बोधगया, लुंबिनी और कुशीनगर के साथ बौद्ध जगत के सबसे पवित्र स्थलों में गिना जाता है।

सदियों से, सारनाथ में क्रमिक शासकों, संरक्षकों और मठवासी समुदायों ने स्तूपों, मंदिरों और विहारों का निर्माण किया, जिससे यह स्थल विश्व में बौद्ध तीर्थयात्रा के चार प्रमुख स्थलों में से एक बन गया। आज, यह विरासत दो संरक्षित पुरातात्विक स्थलों में जीवित है। चौखंडी स्तूप और सारनाथ के पुरातात्विक अवशेष, जिनमें धमेक स्तूप और धर्मराजिका स्तूप शामिल हैं।

यह सूचीकरण विश्व धरोहर समिति के निर्णय के बाद किया गया है, जो 1972 के विश्व धरोहर सम्मेलन को लागू करने के लिए जिम्मेदार निकाय है। समिति असाधारण सार्वभौमिक महत्व के स्थलों की पहचान करती है—ऐसे स्थल जिनका सांस्कृतिक या प्राकृतिक महत्व राष्ट्रीय सीमाओं से परे है और जिन्हें मानवता की साझा विरासत का हिस्सा माना जाता है।

सारनाथ के यूनेस्को की विश्व धरोहर में शामिल होने के बाद 25 जुलाई को प्रेस इनफोर्मेशन ब्यूरो (पीआईबी) ने एक प्रेस विज्ञप्ति में कहा," आज दक्षिण कोरिया के बुसान में आयोजित विश्व धरोहर समिति के 48 वें सत्र में लिए गए एक महत्वपूर्ण निर्णय के तहत, भारत द्वारा 2025-26 चक्र के लिए नामित "प्राचीन बौद्ध स्थल सारनाथ" को यूनेस्को की विश्व धरोहर सूची में शामिल कर लिया गया है। यह मान्यता प्राप्त करने वाला भारत का 45 वां स्थल है। यह वैश्विक सम्मान भारत की चिरस्थायी सांस्कृतिक विरासत का जश्न मनाता है, जो स्थापत्य कला की उत्कृष्टता, क्षेत्रीय पहचान और ऐतिहासिक निरंतरता की विविध परंपराओं को प्रदर्शित करता है। इस सूचीबद्ध संपत्ति में दो भाग शामिल हैं – चौकंडी स्तूप और सारनाथ के पुरातात्विक अवशेष (धामेख स्तूप, धर्मराजिका स्तूप, मूलगंडकुटी विहार, अशोक स्तंभ आदि) – जो उत्तर प्रदेश के वाराणसी में स्थित हैं। ये दोनों भाग मिलकर सारनाथ के प्राचीन स्थल के स्थापत्य और पुरातात्विक अवशेषों को संरक्षित करते हैं, जिसे बौद्ध परंपरा में विभिन्न नामों से जाना जाता है – ऋषिपतन, ईशीपतन, मृगदाव। ये सभी नाम एक पवित्र स्थान को संदर्भित करते हैं, जहाँ बुद्ध ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व में दर्शन किए थे और अपना पहला उपदेश

दिया था, जिसे "धर्मचक्र प्रवर्तन " के नाम से जाना जाता है । इस घटना ने बौद्ध संघ की स्थापना और आर्य अष्टांगिक मार्ग के सिद्धांतों की नींव रखी।"

स्वयं बुद्ध द्वारा बौद्ध तीर्थयात्रा के चार प्रमुख स्थलों में से एक बताए गए सारनाथ का विकास सदियों से शाही, मठवासी और गृहस्थ संरक्षण के माध्यम से हुआ। गौतम बुद्ध के प्रथम उपदेश स्थल और उनके प्रथम शिष्यों से मुलाकात के स्थान के रूप में माने जाने वाले इस स्थल के आसपास अनेक स्तूप, मंदिर और विहार निर्मित किए गए। 12वीं शताब्दी ईस्वी में इसके पतन और बाद में इसके विनाश के कारण यह स्थल गुमनामी में चला गया, जब तक कि 18वीं शताब्दी में इसका पुनः अन्वेषण नहीं हुआ।

इस स्थल में मौर्य-पूर्व काल (5वीं-4वीं शताब्दी ईसा पूर्व से 3वीं शताब्दी ईसा पूर्व तक) से लेकर 12वीं शताब्दी ईस्वी में सारनाथ के विनाश तक निर्मित प्राचीन स्मारकों का एक समूह शामिल है (कुछ बाद के परिवर्धनों के साथ)। सारनाथ को विश्व धरोहर स्थल घोषित किए जाने के बाद, चार सबसे महत्वपूर्ण बौद्ध तीर्थ स्थलों में से तीन; अर्थात् लुम्बिनी (नेपाल), महाबोधि मंदिर, बोधगया (बिहार) और अब सारनाथ (उत्तर प्रदेश) को विश्व धरोहर में शामिल कर लिया गया है। साथ ही सांची, नालंदा, अजंता (तीनों भारत में), अनुराधापुर (श्रीलंका), पहाड़पुर (बांग्लादेश), तक्षशिला और तख्त-ए-बही (दोनों वर्तमान पाकिस्तान में), आदि जैसे कई अन्य महत्वपूर्ण बौद्ध स्थलों को भी शामिल किया गया है।

हालांकि ये कामयाबी काफी इंतजार के बाद मिली है। सारनाथ के प्राचीन स्थल को 1998 में विश्व धरोहर की अस्थायी सूची में शामिल किया गया था। उत्तर प्रदेश के पर्यटन विभाग के मुताबिक 3 जुलाई, 1998 से सारनाथ यूनेस्को की संभावित लिस्ट में शामिल था। 28 साल के लंबे इँतजार के बाद सारनाथ को औपचारिक रूप से विश्व धरोहर में शामिल किया गया है। इसके पहले उत्तर प्रदेश में ही तीन जगहों को इस लिस्ट में शामिल होने का मौका मिला है जिनमें ताज महल, आगरा फोर्ट और फतेहपुर सीकरी शामिल हैं। दिलचस्प बात ये है कि सभी आगरा रीजन के तहत आते हैं।'' (1)

इस स्थल को विश्व धरोहर सूची में शामिल करने का प्रस्ताव जनवरी 2025 में विश्व धरोहर समिति के विचारार्थ भेजा गया था । सलाहकार निकायों के साथ कई तकनीकी

बैठकों और स्थल की समीक्षा के लिए आईकॉमोस मिशन के दौरे सहित अठारह महीने लंबी और गहन प्रक्रिया के बाद, यह ऐतिहासिक निर्णय 25 जुलाई,2026 को दक्षिण कोरिया के बुसान में विश्व धरोहर समिति के सदस्यों द्वारा लिया गया।

पीआईबी की विज्ञप्ति में कहा गया है कि सारनाथ के स्थायी आध्यात्मिक महत्व को मान्यता देते हुए, " प्राचीन बौद्ध स्थल सारनाथ" को मानदंड (iii) और (vi) के तहत नामांकित किया गया है । सारनाथ बौद्ध तीर्थयात्रा के चार प्रमुख स्थलों में से एक है, जिसका प्रमाण सदियों से यहाँ निर्मित और पुनर्निर्मित बड़ी संख्या में धार्मिक भवनों और अन्य स्मारकों से मिलता है। साथ ही, मानदंड (vi) बुद्ध के जीवन की उन घटनाओं से प्रत्यक्ष और मूर्त रूप से जुड़ा है जो बौद्ध समुदाय के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं - उनका पहला उपदेश और उनके पहले शिष्यों से मुलाकात। इन घटनाओं का महत्व और उनका अर्थ सदियों से सारनाथ में निर्मित असंख्य निर्माणों में निहित है, जो बुद्ध के संदेश, उनकी शिक्षाओं और त्रिरत्न की अवधारणा के प्रति एक प्रतिक्रिया

हैं ।

यूनेस्को की सूची में इन धरोहर स्थलों को शामिल करने का उद्देश्य 196 देशों में सांस्कृतिक, प्राकृतिक और मिश्रित संपदाओं में पाए जाने वाले उत्कृष्ट सार्वभौमिक मूल्यों (ओयूवी) पर आधारित साझा विरासत का संरक्षण और संवर्धन करना है। भारत 2021-25 तक प्रतिष्ठित विश्व धरोहर समिति का सदस्य बना और जुलाई 2024 में नई दिल्ली में पहली बार विश्व धरोहर समिति की बैठक की मेजबानी भी की। यह वैश्विक मान्यता भारत की विरासत को विश्व मंच पर उजागर करने के लिए नए भारत के अथक प्रयासों का प्रमाण है। यह मान्यता इन ऐतिहासिक धरोहरों के संरक्षण और प्रबंधन में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (एएसआई) के प्रयासों को रेखांकित करती है।

150 से अधिक वर्षों से, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण सारनाथ के प्राचीन बौद्ध स्थल की खुदाई और संरक्षण कर रहा है, जिसके परिणामस्वरूप सारनाथ की खोज हुई और इसकी पहचान उस स्थान के रूप में हुई जहां शाक्यमुनि बुद्ध ने अपना पहला उपदेश दिया था। शास्त्रीय गुप्त कला से संबंधित धारकाचक्रप्रवर्तन बुद्ध की मूर्ति, ये सभी उत्खननों

से प्राप्त हुए थे और वर्तमान में भारत के सबसे प्राचीन स्थल संग्रहालय में प्रदर्शित हैं, जिसकी स्थापना 1904 में हुई थी।

विश्व धरोहर का दर्जा मिलने से बौद्ध धर्म के जन्मस्थान के रूप में भारत की पहचान मजबूत होगी और जापान, थाईलैंड, श्रीलंका, म्यांमार, कंबोडिया, वियतनाम, दक्षिण कोरिया, मंगोलिया आदि देशों के साथ सांस्कृतिक कूटनीति को बढ़ावा मिलेगा। यह मान्यता अंतरराष्ट्रीय जुड़ाव के लिए एक सेतु के रूप में बौद्ध विरासत को बढ़ावा देने के भारत के प्रयासों को और अधिक समर्थन देगी और साथ ही विरासत संरक्षण में भारत की विशेषज्ञता और नामांकन प्रक्रिया में उसकी तैयारी को भी प्रदर्शित करेगी।

भारत के 69 स्थल विश्व धरोहर की अस्थायी सूची में भी शामिल हैं, जो भविष्य में किसी भी स्थल को विश्व धरोहर स्थल माने जाने के लिए अनिवार्य शर्त है। प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक सदस्य देश विश्व धरोहर समिति के समक्ष विश्व धरोहर सूची में शामिल करने के लिए केवल एक स्थल का प्रस्ताव रख सकता है ।

भारत सरकार की ओर से, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण देश में विश्व धरोहर से संबंधित सभी मामलों के लिए नोडल एजेंसी है। सारनाथ के विश्व धरोहर बनने के बाद आर्केलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया के डायरेक्टर जनरल यदुवीर सिंह रावत एक इंटरव्यू में कहते हैं, " इसे देखने वाले लोगों को भी पता चलता है कि पहले के लोगों का जो ज्ञान था, चाहे वो नगर संरचना हो या किसी और चीज की संरचना, वो कितना विलक्षण था। उसी से आने वाली पीढ़ी ने भी प्रेरणा ली है। उनके ज्ञान से ही हम यहां तक पहुंचे हैं। वहां अभी भी मूलगंध कुटि है, विहार है, स्तूप है। वो जिस रूप में थे, वैसे ही आज भी है। हमने उसे वैसा बनाए रखने और यूनेस्को के नियमों के मुताबिक संरक्षित करने में काफी मेहनत की है। ज्ञान प्राप्त होने के बाद बुद्ध ने पहला प्रवचन सारनाथ में दिया था। इसने पूरी दुनिया को बदल दिया। एक नया विचार दुनिया को दिया। तब से लेकर अब तक साउथ ईस्ट एशिया, चीन और भारत के तमाम लोग उनके ज्ञान को फॉलो करते हैं। दूसरी बात, हमें बुद्ध से लेकर के 12 वीं और 13 वीं शताब्दी के अवशेष मिले हैं। उसका इस काल में भी महत्व रहा है। हमारे समाज ने कभी बुद्ध को अलग माना ही नहीं

है। भारत में वो सबके पूज्य रहे हैं, इसलिए भी इस जगह का महत्व है। इस साइट का बहुत गौरवपूर्ण इतिहास रहा है।" (2)

सारनाथ के स्तूप और बौद्ध धर्म का विस्तार

सारनाथ में भगवान बुद्ध ने ज्ञान प्राप्ति के बाद अपना पहला उपदेश दिया था। बौद्ध परंपरा में यह घटना धर्मचक्र प्रवर्तन के नाम से जानी जाती है और यही बौद्ध संघ की औपचारिक शुरुआत भी मानी जाती है। सारनाथ में धमेख स्तूप, चौखंडी स्तूप, अशोक स्तंभ, पुरातत्व संग्रहालय और मूलगंध कुटी विहार जैसे स्थल विशेष रूप से प्रमुख हैं। इन्हीं के कारण यह स्थान केवल श्रद्धा का केंद्र नहीं, बल्कि भारतीय पुरातत्व और बौद्ध कला के अध्ययन का भी बड़ा क्षेत्र है।

सारनाथ का आरंभिक धार्मिक महत्व बुद्ध के प्रथम उपदेश से जुड़ा है, जब उन्होंने यहाँ बौद्ध संघ की नींव रखी। उसके बाद मौर्य काल में अशोक ने यहाँ स्तूप और स्तंभ बनवाए, जिससे इसका रूप एक प्रमुख बौद्ध तीर्थ में बदल गया। गुप्त काल में यह कला और शिक्षा का केंद्र बना, और ह्वेनसांग के समय तक यहाँ कई मठ सक्रिय थे।

सारनाथ की ऐतिहासिक महत्ता केवल धर्म-परंपरा तक सीमित नहीं रही। मौर्य सम्राट अशोक ने यहाँ स्तूप और स्तंभ बनवाकर इसे राजकीय संरक्षण दिया, जिससे यह एक संगठित बौद्ध केंद्र के रूप में उभरा। प्रसिद्ध मौर्यकालीन सिंह स्तंभ सन 1904-1906 के दौरान खुदाई में हासिल हुआ था। अशोक स्तंभ का सिंह-शीर्ष आगे चलकर भारत के राष्ट्रीय प्रतीक का आधार बना, इसलिए सारनाथ भारतीय राज्य-चिह्न की स्मृति में भी दर्ज है। भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद सारनाथ के लिए सबसे प्रमुख कार्य सम्राट अशोक ने करवाया था। उसने यहां स्तूप बनवाया और अशोक स्तम्भ का निर्माण करवाया।

गुप्त काल में सारनाथ कला, स्थापत्य और बौद्ध मूर्तिकला का अत्यंत समृद्ध केंद्र बना। इसी दौर में यहाँ की प्रतिमाओं और स्थापत्य रूपों ने वह सौंदर्यशास्त्र विकसित किया जिसे भारतीय कला-इतिहास में क्लासिक शैली का शिखर माना जाता है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के विवरणों से पता चलता है कि सातवीं शताब्दी तक यह स्थान अभी भी एक

जीवंत बौद्ध शिक्षा-क्षेत्र था। ह्वेनसांग ने यहां के कई स्तूपों और दूसरे निरामाणों का विस्तार से वर्णन किया है। उसके मुताबिक यहां करीब 1500 भिक्षुक सम्मितिनिकाय के अनुसार अध्ययन करते थे। चीनी यात्री फाहियान पांचवीं शताब्दी में जब भारत आया तो उसने अपने यात्रा वृतांत में लिखा है कि इस क्षेत्र में कई बौद्ध निवास करते थे।

मध्यकाल में आक्रमणों, उपेक्षा और निर्माण-सामग्री के रूप में पत्थरों के पुन: उपयोग के कारण सारनाथ के अनेक स्मारक नष्ट हो गए। इसके बाद उन्नीसवीं सदी में पुरातात्विक खोजों ने इस स्थल को फिर से ऐतिहासिक मानचित्र पर स्थापित किया, और आधुनिक भारत ने इसे बौद्ध विरासत के प्रमुख स्थल के रूप में पुनर्परिभाषित किया।

ग्यारवहीं शताब्दी में कलचुरी राजाओं के शासनकाल में भी यहां शिक्षा के क्षेत्र में कई उपलब्धियां दर्ज की गईं। उस समय यहां का शिक्षण संस्थान सधर्मचक्रप्रर्वतनविहार के नाम से जाना जाता था। हालांकि, इसके बाद भारत में बौद्ध धर्म का पतन शुरू हो चुका था। 1193 में जब कुतुबुद्धीन ऐबक ने बनारस पर अपना कब्जा जमाया तब उसने कई मंदिरों को तोड़ डाला था। माना जाता है कि बौद्ध धर्म के शिक्षण ठिकाने भी उसके विध्वंस से अछूते नहीं थे।

सारनाथ केवल एक पुरातात्त्विक स्थल नहीं, बल्कि अंतरराष्ट्रीय बौद्ध सहयोग का जीवंत केंद्र भी है। यहाँ थाईलैंड और जापान दोनों ने अलग-अलग तरीकों से योगदान दिया है। थाई सरकार ने धार्मिक स्थापत्य और विशाल बुद्ध प्रतिमा के माध्यम से, जबकि जापान ने विरासत-संरक्षण, भित्ति-चित्र पुनर्स्थापन और बौद्ध पर्यटन के विकास के माध्यम से इसमें अपना योगदान दिया है।

सारनाथ थाई, जापानी, श्रीलंकाई, बर्मी और अन्य बौद्ध देशों की साझा आस्था से जुड़ गया है । सारनाथ में थाई सरकार का योगदान का सबसे प्रमुख प्रतीक थाई मंदिर या Wat Thai Temple है, जिसे थाई शाही परिवार ने 1933 में बनवाया था । यह मंदिर केवल पूजा-स्थल नहीं है, बल्कि थाई बौद्ध वास्तु-परंपरा और भारत-थाई धार्मिक संबंधों का प्रतीक भी है ।

थाई योगदान का दूसरा बड़ा पक्ष विशाल बुद्ध प्रतिमा है। रिपोर्टों के अनुसार, थाई सरकार के वित्तीय सहयोग से थाई मठ परिसर में लगभग 89 फुट ऊँची खड़ी बुद्ध प्रतिमा निर्मित की गई, जिसे गांधार शैली से प्रेरित बताया गया है । यह परियोजना लगभग एक दशक से अधिक समय तक चली और बाद में थाई सहयोग से आगे बढ़ी । इस बुद्ध प्रतिमा के बारे में कहा जाता है कि अफगानिस्तान में सन 2000 में जब तालिबान ने वहां की प्रसिद्ध बामियान बुद्धों की स्मृति और बौद्ध धरोहर को विस्फोटक धमाके से उड़ा दिया था तो सारनाथ में उसी शैली में बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण शुरू हुआ था जिसे कई पत्थरों से जोड़कर तैयार किया गया है।

इस प्रतिमा का सांस्कृतिक संदर्भ भी महत्वपूर्ण है। इसे अफ़ग़ानिस्तान के बामियान बुद्धों की स्मृति और बौद्ध धरोहर के प्रति सम्मान के रूप में देखा गया, इसलिए इसका अर्थ सिर्फ स्थापत्य नहीं बल्कि बौद्ध दुनिया की सामूहिक स्मृति से भी जुड़ा है । थाई शाही परिवार का योगदान भी इसी व्यापक धार्मिक-सांस्कृतिक रिश्ते का हिस्सा है। हाल के वर्षों में भारत-थाई संबंधों में सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा और बनारसी रेशमी शॉल जैसे उपहारों का आदान-प्रदान यह दिखाता है कि सारनाथ आज भी दोनों देशों की सांस्कृतिक कूटनीति में सक्रिय रूप से उपस्थित है ।

जापान का योगदान मुख्यतः संरक्षण और बौद्ध पर्यटन के क्षेत्र में है। 2004 में जापान बैंक फॉर इंटरनेशनल कोऑपरेशन (JBIC) ने सारनाथ के लिए एक बड़े ऋण-पैकेज की घोषणा की थी, जिसका उद्देश्य तीर्थ-पर्यटकों के लिए बुनियादी ढाँचा विकसित करना था । यह पहल दिखाती है कि जापान ने सारनाथ को केवल धार्मिक स्थल नहीं, बल्कि अंतरराष्ट्रीय पर्यटन और विरासत-प्रबंधन केंद्र के रूप में भी देखा।

जापान का सबसे उल्लेखनीय सांस्कृतिक योगदान मुलगंध कुटी विहार के भित्ति-चित्रों से जुड़ा है। यह भित्ति-चित्र लगभग एक शताब्दी पहले जापानी कलाकार कोसेत्सु नोसू द्वारा बनाए गए थे, और हाल के वर्षों में जापानी विशेषज्ञों की सहायता से इनका पुनर्स्थापन किया गया । इससे सारनाथ की कलात्मक पहचान को पुनर्जीवित करने में जापानी सहयोग की ऐतिहासिक भूमिका सामने आती है ।

2017 की रिपोर्टों में बताया गया कि टोक्यो आर्ट्स कॉलेज के विशेषज्ञ सारनाथ पहुँचे और महाबोधि मंदिर/विहार परिसर के भित्ति-चित्रों के पुनर्निर्माण व संरक्षण से जुड़े कार्यों में जुड़े । यह सहयोग केवल तकनीकी नहीं था, बल्कि भारत-जापान बौद्ध-सांस्कृतिक साझेदारी का भी प्रतीक था । जापानी दूतावास के दस्तावेज़ों में यह भी दर्ज है कि जापान भारत की बौद्ध विरासतों को संरक्षित करने और उन्हें अंतरराष्ट्रीय बौद्ध परिपथ के रूप में विकसित करने में सहयोग दे रहा है । सारनाथ इसी नीति का एक प्रमुख केंद्र बन गया है ।

सारनाथ में विश्व शांति स्तूप का निर्माण जापान बौद्ध महासंघ और धर्मार्थ जापानी बौद्ध संगठनों की पहल पर कराया गया था। यह परियोजना शांति और अहिंसा के संदेश के लिए बनाई गई थी।सारनाथ का यह स्तूप जापानी बौद्ध परंपरा से जुड़ा हुआ है और इसे बौद्ध शांति-आंदोलन के प्रतीक के रूप में विकसित किया गया। यह सफेद गुंबदाकार स्तूप है, और इसका उद्देश्य बुद्ध की शिक्षाओं के जरिए विश्व-शांति का संदेश देना है। सारनाथ में इसी परिसर के पास जापानी मंदिर भी है, इसलिए यह क्षेत्र बौद्ध-धार्मिक और अंतरराष्ट्रीय सहयोग का महत्वपूर्ण केंद्र माना जाता है।

थाई और जापानी योगदान को सारनाथ की बहुराष्ट्रीय बौद्ध विरासत के रूप में समझना चाहिए। थाईलैंड ने यहाँ श्रद्धा-स्थल, मंदिर और विशाल बुद्ध प्रतिमा के माध्यम से अपनी उपस्थिति दर्ज की, जबकि जापान ने कला-संरक्षण, शैक्षणिक विशेषज्ञता और पर्यटन विकास द्वारा योगदान दिया । इन दोनों देशों की भागीदारी से सारनाथ में धार्मिक पर्यटन को नया आयाम मिला है। इससे न केवल अंतरराष्ट्रीय बौद्ध तीर्थयात्रियों की आवाजाही बढ़ी, बल्कि स्थानीय स्तर पर भी होटल, मार्गदर्शन सेवाओं, दुकानों और सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ावा मिला ।

पर्यटन के स्तर पर भी सारनाथ लगातार महत्वपूर्ण बना हुआ है; उपलब्ध रिपोर्टों के अनुसार 2024-25 में यहाँ लगभग 8.43 लाख आगंतुक आए। यह संख्या बताती है कि सारनाथ धार्मिक, सांस्कृतिक और अंतरराष्ट्रीय विरासत—तीनों स्तरों पर आज भी अत्यंत प्रासंगिक है।

—----------

संदर्भ-

(1) इंडियन एक्सप्रेस, पेज नंबर-2, 26 जुलाई,2026

(2) संडे नवभारत टाइम्स, पेज नंबर-14 , 26 जुलाई, 2026

काशी विश्वनाथ मंदिर और कॉरिडोर

वाराणसी स्थित श्री काशी विश्वनाथ धाम देश के सबसे अधिक श्रद्धालुओं को आकर्षित करने वाले धार्मिक स्थलों में से एक है। मंदिर में बाबा का दर्शन करने के लिए आने वाले भक्तों की संख्या सामान्य दिनों में भी बहुत अधिक रहती है। महाशिवरात्रि, सावन, एकादशी और विशेष अवसरों पर यह संख्या कई गुना बढ़ जाती है। एक अनुमान के मुताबिक, सामान्य दिनों में मंदिर में हर रोज करीब डेढ़ से दो लाख श्रद्धालु दर्शन के लिए आते हैं। भीड़ वाले दिनों में यह संख्या चार से पांच लाख तक पहुंच जाती है। विशेष धार्मिक आयोजनों या बड़े उत्सवों के समय यह आंकड़ा और बढ़ जाता है। हालिया रिपोर्टों में तो रोजाना पांच लाख से ऊपर श्रद्धालुओं के आने की बात भी दर्ज की गई है। काशी में बाबा विश्वनाथ के दर्शन के लिए देश के विभिन्न हिस्सों से ही नहीं, बल्कि विदेशों से भी श्रद्धालु पहुंचते हैं।

मंदिर में श्रद्धालुओं की संख्या बढ़ने का एक बड़ा कारण काशी विश्वनाथ धाम कॉरिडोर का निर्माण भी है। कॉरिडोर बनने के बाद मंदिर तक पहुंचना पहले की तुलना में कहीं अधिक सुगम हुआ है। व्यापक परिसर, व्यवस्थित प्रवेश मार्ग, बेहतर दर्शन व्यवस्था और सुरक्षा प्रबंधन ने भी श्रद्धालुओं को आकर्षित किया है। पहले जहां संकीर्ण गलियों और भीड़भाड़ के कारण दर्शन कठिन हो जाते थे। अब दर्शन व्यवस्था अधिक नियंत्रित और सुगम दिखाई देती है। भीड़ बढ़ने के साथ सुरक्षा और व्यवस्था की चुनौती भी बढ़ जाती है। इसलिए मंदिर प्रशासन और पुलिस लगातार भीड़ प्रबंधन, लाइन व्यवस्था, बैरिकेडिंग, स्कैनिंग और निगरानी पर विशेष ध्यान देती है। श्रद्धालुओं की सुविधा के लिए अलग-अलग प्रवेश और निकास मार्ग बनाए गए हैं, ताकि दर्शन प्रक्रिया सुचारु बनी रहे। व्यस्त दिनों में अतिरिक्त पुलिस बल और सुरक्षा कर्मी तैनात किए जाते हैं।

काशी विश्वनाथ कॉरिडोर क्या है?

कॉरिडोर परियोजना काशी विश्वनाथ मंदिर तक पहुँच बेहतर बनाने के उद्देश्य से तैयार की गई थी। कई दशकों तक श्रद्धालुओं को पारंपरिक पूजा के लिए पहले गंगा में स्नान कर उसका जल मंदिर में अर्पित करने के लिए इन संकरी गल्लियों में जूझना पड़ता था। कॉरिडोर का उद्देश्य नदी और मंदिर के बीच इस ऐतिहासिक संबंध को बहाल करना था ताकि दोनों के बीच एक खुला और सुलभ मार्ग बन सके।

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने मार्च 2019 में इस परियोजना की नींव रखी थी। पहला चरण दिसंबर 2021 में उद्घाटित हुआ। पहले चरण के पुनर्विकास की लागत लगभग 339 करोड़ रुपये रही। पुनर्विकास से पहले मंदिर परिसर लगभग 3,000 वर्ग फुट में फैला था। विस्तार के बाद अब यह परिसर करीब पाँच लाख वर्ग फुट तक फैल गया है, जिससे श्रद्धालुओं और आगंतुकों के लिए यह काफी अधिक सुलभ हो गया है। कॉरिडोर में चौड़ी पैदल मार्ग, प्लाज़ा, तीर्थयात्रियों की सुविधाएँ, व्यूइंग गैलरी, संग्रहालय, फ़ूड कोर्ट और विजिटर असिस्टेंस सेंटर शामिल हैं। बुजुर्ग और विकलांग लोगों की पहुँच सुगम करने के लिए रैम्प और अन्य सुविधाएँ भी मौजूद हैं।

छिपे मंदिरों की पुर्नखोज

इस परियोजना का एक परिणाम यह भी रहा कि पुनर्विकास के दौरान अनेक ऐतिहासिक उपासना स्थल सामने आएं। मंदिर के आसपास की संपत्तियों का अधिग्रहण और उपेक्षित निर्माणों को हटाने पर 40 से अधिक प्राचीन मंदिर उन बाद के निर्माणों के भीतर छिपे हुए पाए गए। इनमें से कई संरचनाओं की मरम्मत की गई और उन्हें बड़े मंदिर परिसर में शामिल कर दिया गया, जिससे वाराणसी आने वाले लोगों को बनारस की परतदार धार्मिक इतिहास की झलक देखने को मिली। परियोजना के तहत मंदिर के घनी आबादी वाले आसपास के इलाके से करीब 300 से अधिक संपत्तियों का अधिग्रहण किया गया।

वाराणसी की गिनती विश्व के सबसे प्राचीन जीवित नगरों में होती है। हिंदू धर्मग्रंथों में इसे भगवान शिव की नगरी कहा गया है। स्कन्दपुराण के काशी खंड में उल्लेख मिलता है कि काशी वह क्षेत्र है जहाँ स्वयं महादेव निवास करते हैं । मृत्यु भी मोक्ष का द्वार बन जाती है।

भारतीय सभ्यता में मंदिर केवल धार्मिक उपासना के केंद्र नहीं रहे हैं। वे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के भी महत्वपूर्ण आधार रहे हैं। विशेष रूप से काशी के मंदिरों ने भारतीय धार्मिक चेतना को जिस प्रकार आकार दिया है। उसका कोई दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। इन मंदिरों में भी काशी विश्वनाथ और बद्री केदारनाथ मंदिर का स्थान सर्वोच्च है।

काशी विश्वनाथ मंदिर मंदिर का वर्तमान रूप 1780 में महारानी अहिल्याबाई होल्कर के द्वारा निर्मित कराये गए कार्यों का परिणाम है। मंदिर का इतिहास संघर्ष और पुनरुत्थान की कथा कहता है। सन 1669 में औरंगज़ेब के आक्रमणों में अनेक मंदिरों सहित काशी विश्वनाथ मंदिर का विध्वंस हुआ। उसके बाद मराठा तथा स्थानीय जनमानस ने मिलकर इसे पुनर्स्थापित किया। अहिल्याबाई ने ज्ञानव्यापी क्षेत्र में भूमि खरीदकर और अवध के नवाब से अनुमति ले कर मंदिर का पुनर्निर्माण करवा कर बनारस में हिंदू धार्मिक जीवन को पुनर्जीवित किया। मंदिर की प्राण-प्रतिष्ठा जैसे संवेदनशील धार्मिक कृत्यों के लिए महेश्वर पंडित को बुलाया गया था। उसके अभिलेख आज भी इंदौर अभिलेखागार में सुरक्षित हैं। यह सब ऐतिहासिक सत्यापन का प्रमाण हैं।

काशी विश्वनाथ परिसर केवल एक मंदिर नहीं, बल्कि काशी की धार्मिक-सांस्कृतिक स्मृति का विशाल केंद्र है । महाराजा रणजीत सिंह का स्वर्ण-दान, अन्नपूर्णा मंदिर की निकटता, और शिव–शक्ति की संयुक्त उपस्थिति इस परिसर को विशेष बनाती है। यहाँ दर्शन-पूजन की परंपरा बहुत प्राचीन है, और अनेक आचार्यों, संतों तथा भक्तों का इससे गहरा संबंध रहा है । वर्तमान मंदिर-परिसर का स्वरूप हाल के वर्षों में और विस्तृत हुआ है, इसलिए "प्रांगण" की बनावट पहले से अधिक जटिल और विकसित दिखती है ।

"शेर-ए-पंजाब" महाराजा रणजीत सिंह की ओर से काशी विश्वनाथ मंदिर के लिए उनका योगदान मंदिर के बाहरी स्वरूप को ऐतिहासिक रूप से विशिष्ट बनाता है । 1835 में उन्होंने मंदिर के शिखर और गुंबदों को स्वर्णमंडित कराने के लिए करीब एक टन सोना दान किया, जिससे मंदिर की छवि "स्वर्ण मंदिर" जैसी बन गई । यह योगदान केवल

भव्यता का प्रश्न नहीं था, बल्कि उत्तर भारत की धार्मिक संस्कृति में एक सिख शासक की उदार संरक्षक-भूमिका का भी उदाहरण है ।

मंदिर में श्रद्धालुओं की संख्या बढ़ने का एक बड़ा कारण काशी विश्वनाथ धाम कॉरिडोर का निर्माण है। कॉरिडोर बनने के बाद मंदिर तक पहुंचना पहले की तुलना में कहीं अधिक सुगम हुआ है। व्यापक परिसर, व्यवस्थित प्रवेश मार्ग, बेहतर दर्शन व्यवस्था और सुरक्षा प्रबंधन ने भी श्रद्धालुओं को आकर्षित किया है। पहले जहां संकीर्ण गलियों और भीड़भाड़ के कारण दर्शन कठिन हो जाते थे। अब दर्शन व्यवस्था अधिक नियंत्रित और सुगम दिखाई देती है। भीड़ बढ़ने के साथ सुरक्षा और व्यवस्था की चुनौती भी बढ़ जाती है। इसलिए मंदिर प्रशासन और पुलिस लगातार भीड़ प्रबंधन, लाइन व्यवस्था, बैरिकेडिंग, स्कैनिंग और निगरानी पर विशेष ध्यान देती है। श्रद्धालुओं की सुविधा के लिए अलग-अलग प्रवेश और निकास मार्ग बनाए गए हैं, ताकि दर्शन प्रक्रिया सुचारु बनी रहे। व्यस्त दिनों में अतिरिक्त पुलिस बल और सुरक्षा कर्मी तैनात किए जाते हैं।

काशी विश्वनाथ धाम में आने वाले श्रद्धालुओं में तीर्थयात्रियों के साथ-साथ पर्यटकों की संख्या भी लगातार बढ़ रही है। अनेक लोग काशी की धार्मिक परंपरा, गंगा तट, घाटों, मंदिरों और सांस्कृतिक वातावरण के कारण यहां आकर्षित होते हैं। यही कारण है कि मंदिर परिसर में दिनभर चहल-पहल बनी रहती है। दर्शनार्थियों की लंबी कतारें आम दृश्य बन गई हैं। पहले जहां यह एक परंपरागत तीर्थ के रूप में जाना जाता था। अब यह राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक प्रमुख धार्मिक गंतव्य के रूप में स्थापित हो चुका है। श्रद्धालुओं की बढ़ती संख्या यह संकेत देती है कि बाबा विश्वनाथ के प्रति आस्था समय के साथ और अधिक प्रबल हुई है।

इलाके के सभी लोग इस कॉरिडोर के निर्माण से खुश हैं, ऐसा नहीं लगता है। सरकारी परियोजना काशी विश्वनाथ कॉरिडोर के तहत 600 करोड़ की लागत से काशी विश्वनाथ मंदिर-ज्ञानव्यापी मस्जिद के पूर्वी छोर और मणिकर्णिका घाट के बीच अब न तो छोटी गलियां बची हैं और न ही गलियों में समाया हुआ कोई मोहल्ला। यहां न कोई मकान-दुकान है और न लोग रह गए हैं। करीब 600 परिवारों के विस्थापन और परंपरागत रोजगार के जरिये गंगा के तट पर उनका अब कोई ठिकाना नहीं है। उनको पुर्नस्थापित

करने के लिए सरकार ने कई गुणा मुआवजा दिया और दूसरे इलाकों में बसाने का काम भी किया है।

काशी विश्वनाथ कॉरिडोर के जरिये ऐतिहासिक विकास का दावा किया गया है। काशी विश्वनाथ मंदिर के पास ज्ञानव्यापी मस्जिद मौजूद है। मंदिर-मस्जिद के साथ-साथ होने में हमारी मजहबी सियासत को अपना एक सुनहरा भविष्य दिख रहा है। कुछ लोग बाबरी जैसी घटना यहां पर घटने से इनकार भी नहीं करते। उनके अलावा इलाके में रहने वाले कुछ लोगों को इस बात की आशंका है कि हिंदू सांप्रदायिकता की सियासत ने जिस तरह से 1992 में बाबरी के ढांचा गिराने के बाद पूरे उत्तर भारत में एक निर्णायक मौजूदगी दर्ज करने में सफलता पाई, ठीक उसी तर्ज पर हिंदू सांप्रदायिकता की सियासत ज्ञानवापी मस्जिद को ध्वंस कर दक्षिण भारत में अपनी मौजूदगी दर्ज करने की फिराक में है।

सरकारी तौर पर कागजों में कॉरिडोर का मकसद बताया गया है कि गंगा के तट से काशी विश्वनाथ मंदिर आने में कोई दिक्कत नहीं हो और दर्शानार्थी गंगा के घाट से काशी विश्वनाथ मंदिर को साफ-साफ देख सकें। अब तक आधिकारिक रूप में ज्ञानवापी मस्जिद का किसी तरह से जिक्र नहीं हुआ है। ज्ञानवापी मस्जिद की मौजूदगी के जमीनी मायने की बात करें तो काशी विश्वनाथ और ज्ञानव्यापी मस्जिद के बीच की दूरी महज 10 मीटर है। यहां पर सुन्नी वक्फ बोर्ड की तीन संपत्तियां, प्लॉट न. 9130, 8263 और 8276, हैं। ज्ञानव्यापी मस्जिद एक बीघा, 9 विस्वा और 6 धूर वाले प्लॉट न. 9130 पर खड़ी है। बाकी के दो प्लॉट भी इसी के आस-पास हैं। (1)

कानूनी तौर पर पहला विवाद 1936 में उस वक्त शुरू हुआ जब कुछ स्थानीय लोगों ने मस्जिद और मस्जिद के आस-पास की जमीन पर अधिकार के लिए, बनारस की सिविल कोर्ट में एक याचिका दाखिल की। सन 1937 में सिविल कोर्ट ने न सिर्फ मस्जिद और मस्जिद के आस-पास फैली कब्र की जमीन को वक्फ बोर्ड की संपत्ति माना बल्कि स्थानीय मुसलमानों को मस्जिद के पश्चिमी छोर पर बने दो कमरे में साल में एक बार उर्स मनाने का अधिकार भी दिया। बनारस में मुसलमानों की कुल आबादी 3.5 लाख के आस-पास है।

मंदिर-मस्जिद के तमाम ऐतिहासिक विवाद पर पूर्णविराम लगाते हुए सन 1991 में नरसिम्हा राव सरकार ने उपासना स्थल विशेष उपबंध अधिनियम 1991 कानून बनाया था। इस कानून की धारा 4 में साफ कहा गया है कि 15 अगस्त 1947 को मौजूद उपासना स्थल का धार्मिक स्वरुप वैसा ही बना रहेगा जैसा वह उस दिन मौजूद था। साथ में यह भी प्रावधान किया गया है कि अयोध्या को छोड़ देश के अन्य हिस्सों में 15 अगस्त 1947 से मौजूद कोई भी उपासना स्थल न्यायिक विवाद की सीमा में नहीं होगा तथा पहले से चल रहे न्यायिक विवाद मान्य नहीं होंगे और न ही उपासना स्थल से किसी प्रकार की छेड़छाड़ मान्य होगी।

मंदिर प्रांगण में अन्नपूर्णा मंदिर

अन्नपूर्णा मंदिर देवी अन्नपूर्णा को समर्पित मंदिर है, जिन्हें अन्न, पोषण और समद्धि की देवी माना जाता है । काशी में यह मंदिर काशी विश्वनाथ क्षेत्र से निकट जुड़ा हुआ है और धार्मिक रूप से शिव–शक्ति संबंध की जीवंत अभिव्यक्ति माना जाता है । परंपरा के अनुसार यहाँ अन्नपूर्णा देवी की कृपा से ही अन्न और जीवन-निर्वाह की समृद्धि का भाव जुड़ता है। वर्तमान काशी स्थित अन्नपूर्णा मंदिर का निर्माण मराठा पेशवा बाजीराव प्रथम से जोड़ा जाता है। उपलब्ध स्त्रोत इसे 18वीं शताब्दी की कृति बताते हैं । कुछ स्त्रोत इसकी तिथि 1729 के आसपास बताते हैं । मंदिर से जुड़ी परंपरा में यह भी कहा जाता है कि यहीं आदि शंकराचार्य ने अन्नपूर्णा स्तोत्र की रचना की थी, जिससे इसकी दार्शनिक और भक्ति-परंपरा और गहरी हो जाती है ।

———————————————

संदर्भ-

1) सुशील कुमार, कारवां, 27 अप्रैल, 2019 अंक से

दालमंडी : ' डॉल मार्केट ' से कॉरिडोर तक की कहानी

वाराणसी में दालमंडी कुछ समय पहले तक एक घनी, संकरी और भीड़भाड़ वाली पुरानी गली मानी जाती थी**। इस इलाके में** दुकानें, घर, धार्मिक स्थल और आवागमन की तंग जगहें साथ-साथ मौजूद थे। हालिया रिपोर्टों के अनुसार यह इलाका अभी भी ट्रैफिक जाम, तंग रास्तों और तोड़फोड़ और चौड़ीकरण की गतिविधियों के कारण लगातार बदलाव के दौर से गुजर रहा है । पुरानी दालमंडी सिर्फ एक सड़क नहीं, बल्कि "पुराने बनारस" की जीवित संस्कृति का हिस्सा बन गई थी। यहां व्यापार, धर्म, संगीत, लोकजीवन और बहुसांस्कृतिक सह-अस्तित्व का मिश्रण लंबे समय तक मौजूद रहा । इसे केवल एक इंफ्रास्ट्रक्चर परियोजना के रूप में नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक और सामाजिक विरासत से भरपूर इलाके पुरानी यादों के दस्तावेज के रूप में भी देखा जाता है ।

पिछले कई दशकों से दालमंडी कोई खुली चौड़ी सड़क नहीं थी। यह पुराने बनारस का सघन बाज़ारी बनावट वाला क्षेत्र माना जाता था। कई रिपोर्टों में इसकी चौड़ाई कुछ हिस्सों में लगभग 2.5 से 5 मीटर थी। इस वजह से वाहनों और पैदल लोगों दोनों को दिक्कत होती थी । इलाके में प्रस्तावित कॉरिडोर की वजह से इन दिनों चल रहे चौड़ीकरण से जुड़ी कार्रवाई के चलते व्यापारियों और स्थानीय निवासियों में चिंता, तनाव और रोज़गार को लेकर असुरक्षा भी है । दालमंडी कॉरिडोर वाराणसी के ऐतिहासिक दालमंडी क्षेत्र में सड़क चौड़ीकरण और पुनर्यावरण की एक बड़ी परियोजना है। इसका मुख्य उद्देश्य श्रद्धालुओं को काशी विश्वनाथ धाम तक सुगम और बिना जाम के पहुंच प्रदान करना है।

इलाहाबाद हाईकोर्ट ने मई 2025 में इस प्रोजेक्ट पर दखल दिया था और 189 मकानों को तोड़ने से रोकते हुए सरकार से एक हफ्ते में जवाब मांगा था । हालांकि, मार्च 2026

में प्रशासन ने फिर से 30 मकानों के ध्वस्तीकरण की कार्रवाई शुरू कर दी । मौजूदा हाल ये है कि दालमंडी इलाके का प्रसिद्ध मुसाफिरखाना अब पूरी तरह से टूट चुका है। इलाके में पहले करीब 6 फुट की संकरी गली हुआ करती थी, लेकिन अब यहां का नजारा हाईवे जैसा दिखता है।

क्या है दालमंडी इलाके में प्रस्तावित कॉरिडोर ?

ये इलाका समय के साथ घने शहरी बाजार के रूप में विकसित हुआ था। दालमंडी एक भीड़भाड़ वाला, पुरानी बनावट वाला और परिवर्तन के दौर से गुजरता इलाका माना जाता था, जिससे वाहनों और पैदल लोगों दोनों को दिक्कत होती थी। वाराणसी का इतिहास लिखने वाले लेखकों ने भी इसका जिक्र किया है कि इन गलियों में गोरे अफसरों, सरकारी अधिकारियों और पर्यटकों की बग्घियां या मोटर के आने पर उनको दिक्कतों का सामना करना पड़ता था।

इस पुराने इलाके में रहने वाले लोगों में कॉरिडोर को लेकर अलग-अलग राय है। कुछ लोग बेहतर मुआवजे और किसी दूसरी जगह बसाने के लिए जगह की मांग कर रहे हैं। कुछ समय पहले कॉरिडोर को लेकर दालमंडी के 187 इमारतों को खाली करने का नोटिस मिला था। इनमें 580 दुकानें भी शामिल थीं। मुआवजे को लेकर दुकान और मकानों के मालिक तो कुछ पद तक संतुष्ट हैं। इसके विपरीत, किराया देकर अपना बिजनेस करने वाले ज्यादातर दुकानदार इस कार्रवाई के सख्त खिलाफ हैं। उनका कहना है कि सदियों से बसे-बसाए इस इलाके में अपना कारोबार शुरू करने के लिए उन्होंने पगड़ी पर दुकानें ली थीं, जिसमें काफी खर्च हुआ था। अब उसकी भरपाई कौन करेगा ?

दुकानदार और मकान मालिक प्रस्तावित कॉरिडोर का चौड़ाई कम करने की मांग कर रहे हैं। उनका कहना है कि इन दुकानों से डेढ़ से दो लाख लाख लोगों की आजीविका जुड़ी है। उनका सवाल है कि इसी संकरी गली से बगैर किसी अड़चन के जब महाकुंभ की भीड़ निकल गई तो इसकी चौड़ाई कम करने में क्या परेशानी है? इलाके में लक्ष्मु महाराज का निवास था। भारत रत्न बिस्मिल्ला खान का भी इस इलाके में मकान है लेकिन वो प्रस्तावित कॉरिडोर का निर्माण कर रहे पीड्ब्यूडी को ओर से कार्रवाई से प्रभावित नहीं है। कार्रवाई के तहत इलाके में बनी छह मस्जिदें भी शामिल हैं ।

प्रस्तावित कॉरिडोर का उद्देश्य यातायात और तीर्थ-यात्रा सुविधा बढ़ाना है, लेकिन इसके साथ स्थानीय जीवन, व्यापार और विरासत पर बड़ा असर भी पड़ रहा है। काशी विश्वनाथ मंदिर के दर्शन के लिए जाने वाले दर्शनार्थियों की सुविधा के ध्यान में रखने हुए प्रस्तावित योजना के तहत दालमंडी की लगभग 650 मीटर लंबी सड़क को करीब 17.4 से 17.5 मीटर तक चौड़ा करने की बात कही गई है। इस योजना में 10 मीटर की सड़क, दोनों ओर 3.2 और 3.2 मीटर फुटपाथ और भूमिगत यूटिलिटी लाइनें शामिल बताई गई हैं । इसका मुख्य उद्देश्य काशी विश्वनाथ धाम तक पहुंच को बेहतर और सुगम बनाना है ।

दालमंडी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पुराने व्यावसायिक इलाकों में गिनी जाने वाली दालमंडी का अतीत पुराने काशी विश्वनाथ क्षेत्र के पारंपरिक बाज़ार जीवन से जुड़ा रहा है । एक विवरण के अनुसार, यहां कभी दाल और अन्य वस्तुओं का व्यापार हुआ करता था, इसलिए इसका नाम "दालमंडी" पड़ा। हालांकि, दालमंडी को लेकर कुछ अलग मान्यताएं भी हैं। यह क्षेत्र सांस्कृतिक प्रस्तुतियों और तवायफी/लोक-प्रदर्शन परंपराओं से भी जुड़ा रहा है ।

'देखो हमरी काशी' पुस्तक में बनारस का मर्मज्ञ समझने वाले प्रसिद्ध लेखक और वरिष्ठ पत्रकार हेमंत शर्मा कहते हैं ,'महाकवि जयशंकर प्रसाद और आधुनिक हिंदी के जन्मदाता भारतेंदु की यह आश्रयस्थली थी। यहां ना कोई छोटा, ना बड़ा। सब बराबर। दालमंडी में आने के लिए बस संगीत में रुचि, वहां की तहजीब की जानकारी और अंटी में माल होना चाहिए। दालमंडी वेश्यालय नहीं था। यहां सुरों की महफिल सजती थी और संगीत की दुनिया रौशन होती थी। संगीत और संस्कृति के संरक्षण के साथ ही स्वतंत्रता आंदोलन में दालमंडी के कोठो का अतुलनीय योगदान रहा है। वक्त ने दालमंडी को इतना बदनाम कर दिया कि दालमंडी की शोहरत दुनिया में तो हुई लेकिन बनारस से राजस्व दस्तावेज में इस मुहल्ले का नाम तक दर्ज नहीं है। कभी इसी मोहल्ले में पारसी थिएटरकार आगा हश्र काश्मीरी रहा करते थे। दरअसल चौक से नई सड़क के बीच जिस गली को लोग दालमंडी के नाम से जानते हैं, उस गली का मूल नाम हकीम मोहम्मद जाफर मार्ग है। इसी गली में एक ओर चहमामा है तो दूसरी ओर रेशम कटरा मुहल्ला।' (1)

भारत रत्न बिस्मिल्ला खा का घर इसी मुहल्ले का सराय हड्डा था। करीब 90 साल तक शहनाई का पर्याय कहे जाने वाले उस्ताद बिसमिल्ला खान पूर्वी बिहार के डुमराव रियासत से अपने चाचा अली बख्श के साथ बनारस आए थे। उनका जन्म 18 मार्च 1916 को डुमराव में हुआ था और 1922 में वो बनारस में रहने वाले अपने मामू के पास आ गए थे। उनके मामू को ही उनका गुरू बनने का सौभाग्य मिला। इस भारत रत्न की सादगी का यह आलम था कि सराय हड्डा के अपने छोटे से पुश्तैनी मकान में अक्सर लोगों को वह अपनी बकरी को चारा खिलाते नजर आ जाते थे। उनका संगीत उंच-नीच, जाति-पांति, मजहब और अमीर-गरीब से उपर था। हिंदू नवविहाहितों के पूजा के मौके पर बजने वाली बधैया हो या चैती, कजरी या ठुमरी जैसे लोकगायन उनका अंदाज बेजोड़ था। उस्ताद बिस्मिल्ला खान ने अपने शुरूआती करीब 20 साल बालाजी मंदिर में रियाज किया जिसका उनपर ताउम्र असर रहा। जो शहनाई मंदिरों के नौबतखानों तक सीमित थी, उसका जादू उन्होंने दुनिया भर में फैलाया।

गौर करने वाली बात थी कि उनके मजहब में संगीत वर्जित था। पांच वक्त के नमाजी बिस्मिल्लाह खान साहब से जब एक बार इस बारे में पूछा गया तो उन्होंने कहा था कि संगीत उनके लिए एक इबादत है। उनका कहना था, '' जब इस्लाम में संगीत पर इतनी बंदिश है तो फैय्याज खां, अमीर खान, विलायत खान जैसे दिग्गज निकले हैं। सोचिए, अगर ऐसी रोक नहीं होती तो क्या होता।'' अपने सक्रिय जीवन के आखिरी साल को छोड़कर ताउम्र बनारस के मुहर्रम की पांचवी और आठंवी तारीख को कर्बला के शहीदों की याद में उस्ताद अपने संगीत का नजराना पेश करते थे।

दालमंडी मशहूर तबला वादक लच्छू महाराज का भी ठिकाना था। यहां के एक छोटे से कमरे में लच्छु महाराज पिछले पचास साल से रियाज करने के लिए हर रोज बनारस के नगवा से दालमंडी आते थे। दोपहर में कठिन अभ्यास के बाद देर रात अपने घर नगवा लौटते थे।

दालमंडी का इलाका

दालमंडी के ऐतिहासिक किनारों पर संगीत की गूँज खनकती रही है। यहाँ की तवायफों, गायिकाओं और कलाकारों की कथाएँ इस गलियों की आत्मा हैं। हुस्नाबाई, राजेश्वरी

बाई, गौहर जान जैसी हस्तियाँ सिर्फ नाम नहीं, बिरादरी थीं जिन्होंने ठुमरी, भोजपुरी लोकगीत और स्वतंत्रता-समर्थक भावनाओं को आवाज दी। गौहर जान का वियोग और उसके भोजपुरी गीतों की तड़प, राजेश्वरी बाई की हर महफिल में गूँजती आख़िरी बंदिश एक पूरी पीढ़ी की भावनात्मक अभिव्यक्ति बनकर उभरीं। उस समय जब ग्रामोफोन की शक्ल और लाइव बैठकों का उत्सव था, तब इन कोठों ने संगीत को और आज़ादी को साथ-साथ पाला। अंग्रेजों ने जिस "डॉल मार्केट" का नाम दिया, शहर वालों ने उसे धीरे-धीरे "डॉल मंडी" कहकर प्यार दे दिया और फिर इसकी औपचारिकता टूटकर बस "दालमंडी" बन गई।

पत्रकार हेमंत शर्मा लिखते हैं, " भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दिनों में अंग्रेजों ने गड़बड़ की। सभी नाचने वालियों को एक ही श्रेणी में रखकर इन्हें "नॉचगर्ल" कहा। इसी के चलते समझ का अंतर मिटने लगा। अंग्रेजी चश्मे से लिखे गए इन अभिलेखों, क्रॉनिकल, गजेटियर में इन सबको नॉचगर्ल करार दिया गया। इस विषय पर सबसे प्रामाणिक लेखन अंग्रेज लेखक प्राण नेविल और फ्रांसिस्का ओर्सिली का है। हिंदी में यर्थाथवादी लेखन अमृतलाल नागर की पुस्तक " ये कोठेवालियां" हैं।" (2)

इसी दालमंडी में आजादी के आंदोलन में बदनाम कही जाने वाली तवायफों ने भी अंग्रेजों के खिलाफ खुलकर मोर्चा लिया। इस लड़ाई में जिन तवायफों ने हिस्सा लिया उनमें हुस्नाबाई, राजेश्वरी बाई, गौहर जान शामिल थीं। इनके कोठे पर अंगरेजों को देश से निकालने की रणनीति तय होती थी। ठुमरी गायिका राजेश्वरी बाई तो हर महफिल में अंतिम बंदिश '' भारत कभी ना बन सकेगा गुलाम'' गाना नहीं भूलती थीं। '' फूल गेंदवा ना मारो'' जैसे गीत से मशहूर रसूलन बाई ने भी अपने संकल्प के मुताबिक आभूषण तभी पहना, जब देश आजाद हो गया।

संगीत के जरिये आजादी का परचम लहराने वाली तवायफों में गौहर खान भी शामिल थीं। अंग्रेजों ने उनके स्वतंत्रता सेनानी प्रेमी को हिरासत में लेकर मिर्जापुर भेज दिया था। विरह से दुखी गौहर जान ने अपने दुख को भोजपुरी लोकगीत बनाकर गाया। मिर्जापुर से उनके प्रेमी को तत्कालीन बर्मा के रंगून भेज दिया गया, जिसके बाद गौहर जान का दुख और गहरा गया। लेखक विक्रम संपत की किताब '' माई नेम इज गौहर खान '' के

मुताबिक गौहर खान आजादी की लड़ाई को समर्थन देने के लिए स्वराज कोष में कुछ राशि नियमित तौर पर जमा करती थीं। किताब के मुताबिक महात्मा गांधी ने गौहर खान को बुलाकर उनसे आजादी की लड़ाई के लिए चंदा जुटाने की अपील की थी।

अपने प्रेमी का वियोग गौहर खान के भोजपुरी गीतों के रूप में उभरा। उसकी बानगी देखिए,

'सेजिया पे लोटे काला नाग हो
कचौड़ी गली सून कईला बलमु
सेजिया पे लोटे काला नाग हो
कचौड़ी गली सून कईला बलमु

एही मिर्जापुर से ऊड़िले जहाजिया
रे ऊड़िले जहाजिया
ऐ रामा ऊड़िले जहाजिया
पिया चल गईले रंगून हो...
कचौड़ी गली सून कईला बलमु''

रंगून में गौहर के प्रेमी को फांसी की सज़ा हुई तो गौहर जान के क्रोध और दुख की सीमा न रही। गीत में आगे उन्होंने बदले की इच्छा व्यक्त की..

''हथवा में होती जे हमरे कटरिया
हथवा में होती जे हमरे कटरिया
बाहा देईत गोडवा के खून हो...
बाहा देईत गोरवा के खून हो
कचौड़ी गली सून कईला बलमु''

अपुष्ट स्त्रोतों का हवाला देते हुए कहा जाता है कि गौहर जान की नानी हिंदुस्तानी और नाना अंग्रेज थे। उनके पिता आर्मीनियाई थे। जब संगीत लाइव सुनना ही संगीत सुनने का एकमात्र तरीका था, और उसे रिकार्ड करने का कोई ज़रिया न था, गौहर जान उस समय की भारत की पहली सुपरस्टार थीं। गौहर खान ग्रामोफोन पर अपने गायन का रिकॉर्ड बनवाने वाली पहली महिला थीं। उनके लोकप्रिय गीतों में एक है, 'सावनवा

में ना जइबो ननदी'। शारदा सिन्हा का 'नयन मोसे दूर कइल बलमू' भी इसी धुन में है।

बनारस का ''चौक'' शहर का केन्द्र बिंदू माना जाता है। चौक के चौराहे पर पूरब की दिशा में खड़े होने पर.आपके बाईं ओर विश्वेश्वर मंडी मिलेगी जो अर्थ यानी व्यापार का बहुत बड़ा बाजार है। सामने पूरब दिशा में है चारों पहरे जागृत महाश्मशान जहां की अग्नि कभी ठंडी नहीं होती। अपने दाईं तरफ देखेंगे तो बाबा विश्वनाथ धाम। सनातन धर्म का सर्वोच्च तीर्थस्थल, महादेव का पावन मंदिर और पीछे की दिशा में दालमंडी मौजूद है ।

इस इलाके में अभी रेनोवेशन का काम चल रहा है लेकिन एक समय था जब सुबह की पहली रौशनी के साथ ही दालमंडी की छोटी-छोटी गलियाँ पहले से ही जीवन से भर चुकी होती थी। धूल-सी बिखरी, पुराने पत्थरों की बैठकों पर दूकानदार अपनी गलियों (गल्लियों) के बाहर पलंग जैसा किनारा बना लेते थे। वहां बैठकर चाय की चुस्कियाँ लेते हुए परोसने वाली अदाएं उन पुरानी कहानियों की तरह हैं, जिनका कोई सही समय नहीं होता। दालमंडी किसी नक्शे में सिर्फ एक जगह नहीं, यह बनारस की एक शुद्ध, सघन और जिंदा परंपरा है। यहाँ व्यापार, संगीत, धार्मिकता और लोकजीवन एक-दूसरे से गुंथे हुए हैं।

दालमंडी की संकरेपन में ही उसकी पहचान छिपी थी। कई हिस्सों में सड़कें दो-दो मीटर से पाँच मीटर के आकार में थीं। ऐसे में न केवल आधुनिक वाहनों बल्कि पैदल चलने वाले लोग भी कठिनाई महसूस करते थे। यह भी सच है कि इसी घनी बनावट ने दालमंडी को बनारसी रईसी, संगीत और स्थानीय बाज़ार संस्कृति का केन्द्र बनाया। काशी की चारों दिशाओं में फैली जिंदगी का यह टुकड़ा उन जटिल सीमाओं और परतों को समेटे हुए है जिनमें लोग घर, दुकान, धर्मस्थल और जन-जीवन एक ही साँस में जीते हैं।

समय के साथ शहर का नक्शा बदलता रहा, पर दालमंडी का अपना स्वाभाव रहा। चौक से निकालने वाली नई सड़कों के बीच यह गली एक छोटी लेकिन महत्वपूर्ण यादगार रही। यहाँ खासतौर से जीविका और कला ने एक अनूठा संयोजन बना रखा था। इन हालियों दशकों में न केवल अर्थव्यवस्था बदली, बल्कि शहरी योजनाओं की सीधी-सीधी आँखों

ने भी इस इलाके की तरफ देखा और अब प्रस्तावित कॉरिडोर इसका सबसे बड़ा रूपांतर है।

कॉरिडोर : रूपरेखा और मकसद

प्रस्तावित कॉरिडोर का औपचारिक उद्देश्य स्पष्ट है: काशी विश्वनाथ धाम तक तीर्थयात्रियों और वाहनों की सुगम आवागमन सुनिश्चित करना। योजना के मुताबिक दालमंडी की लगभग 650 मीटर लंबी धुरी को 17.4–17.5 मीटर तक चौड़ा किया जाएगा। इसमें 10 मीटर का मुख्य मार्ग, दोनों ओर 3.2 मीटर के फुटपाथ और भूमिगत यूटिलिटी लाइनें शामिल हैं। योजना की तकनीकी बातें भले ही आधुनिक लगें, पर इनका धरातल पर प्रभाव जटिल और बहुउद्देशीय है। इस फैसले से यातायात तो सुधरेगा, पर स्थानीय जीवन और विरासत की कई तहें ध्वस्त होने का खतरा भी उठ खड़ी होती हैं।

कर्मचारी नोटिसों का असर

कॉरिडोर के ऐलान के साथ ही कुछ दिनों पहले इलाके के 187 इमारतों को खाली करने का नोटिस जारी हुआ था, जिनमें लगभग 580 दुकानें थीं। इस संख्या के पीछे बस आर्थिक आँकड़ा नहीं है। यह 1.5 से 2 लाख लोगों की आजीविका से भी जुड़ा कथानक भी है, क्योंकि इन दुकानों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से परिवार चलते हैं। दुकानदारों और किरायेदारों की असमंजस-भरी प्रतिक्रियाएँ इस योजना की जटिलता की असली गाथा हैं। मकान-मालिक और दुकान-मालिकों के हितों में भिन्नता स्पष्ट है। कुछ संपत्ति-धारक मुआवज़े के प्रस्ताव से आंशिक रूप से संतुष्ट हैं। उधर, किराये पर जिन्दगी चलाने वाले छोटे दुकानदार इस बदलाव के सख्त खिलाफ हैं।

विरोध और तर्क

दालमंडी के कई लोगों का तर्क है कि संकरी गलियाँ भी अपनी उपयोगिता और सहनशीलता का परिचय दे चुकी हैं। महाकुंभ जैसी विशाल जनसभाओं के समय जब भीड़ बिना अड़चन के निकल जाती है, तब सवाल उठता है, क्या चौड़ाई घटाने से वास्तविक समस्या जटिल हो जाएगी? स्थानीय और पारंपरिक आयोजन दिखाते हैं कि कस्बाई जीवन में सामुदायिक समझ और समयबद्ध प्रबंधन से भी यातायात समस्या हल

हो सकती है। साथ ही दुकानदारों का कहना है कि उनका कारोबार, उनकी पहचान और उनकी पीढ़ियों की मेहनत इन पत्थरों और इन गलियों के साथ जुड़ी हुई है । इन्हें हटाकर आधुनिकता का एक आम रास्ता बनाना बहुत सारी अनमोल चीजें मिटा देगा।

दूसरी ओर पीडब्ल्यूडी तथा योजनाकारों का तर्क है कि काशी विश्वनाथ धाम तक सुगम और सुरक्षित मार्ग बनाना सार्वजनिक हित में है। तीर्थयात्राओं के दौरान भारी भीड़, आपातकालीन सेवाओं की पहुंच, और समग्र यातायात प्रबंधन, ये सारे पहलू योजना के पक्ष में बताये जाते हैं। तकनीकी दृष्टि से भूमिगत यूटिलिटी, समतल फुटपाथ और चौड़ी सड़क से दीर्घकालिक सुविधाएँ मिल सकती हैं । हालांकि, प्रश्न यह रह जाता है कि क्या ये सुविधाएँ पुरानी जीवन-लैने की कीमत पर आने से बचाई जा सकती हैं।

सूती कपड़ों की दुकान चलाने वाले छोटे दुकानदार रहीम के लिये दूकान केवल आमदनी का जरिया नहीं, बल्कि उनकी पहचान की गारंटी है। उन्होंने बताया कि पगड़ी पर ली गई दुकान के मिलने-जुलने और ग्राहक-रिश्तों को बनाने में वर्षों लगे। मुआवज़ा मिले तो भी नई जगह पर वही ग्राहक शब्द नहीं होंगे। मध्यम आयु की गृहिणी शौकत ने गृह-उपहार की छोटी दुकान चलायी है। उनका घर और दुकान एक ही इमारत में है। नोटिस के बाद वे चिंतित हैं कि क्या उनकी पारम्परिक कला और छोटे-छोटे हस्तशिल्प का कोई नया बाजार होगा? क्या वे अपने परिवार के लिए यहां से कहीं और स्थिर जीवन की आश्वस्ति पा सकेंगी?

इलाके की एक मस्जिद के इमाम मौलाना यूसूफ कहते हैं कि मस्जिद केवल जगह नहीं, समाज का केन्द्र है। हर पर्व, हर मिलन और हर संकट में मस्जिद ने सहायता पहुँचाई है। जब कोई फैसला समुदाय की जड़ों को हिलाता है, तो उसकी प्रतिक्रिया सिर्फ आध्यात्मिक नहीं रहती, बल्कि यह आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा के प्रश्न भी उठाती है।

क्या है विकल्प ?

यह आवश्यक नहीं कि हर विकास या आधुनिकीकरण का मतलब सबकुछ मिटा देना हो। दालमंडी के संदर्भ में मध्यपथ की कुछ सम्भावनाएँ उभरकर सामने आ सकती हैं।

जानकारों का मानना है कि संकरे हिस्सों में गाड़ियों के प्रवेश पर समय-निर्धारित प्रतिबंध (पब्लिक ट्रांसपोर्ट/इमरजेंसी छोड़कर) लगाया जाए, जिससे तीर्थकाल में व्यवधान कम से कम हो।

इसके साथ, विस्तार का वैकल्पिक मार्ग या 'बाईपास' बनाना ताकि स्थानीय बाजार बचा रहे। प्रभावित दुकानदारों के लिये पुनर्स्थापना के स्पष्ट, शीघ्र और पारदर्शी मुआवज़े, साथ में स्थानान्तरण का सहयोग होना चाहिए ताकि प्रभावित लोगों का मदद मिल सके।

दालमंडी की गलियों के पत्थरों पर लगे हुए उन निशानों में इतिहास की आवाज़ गूँजती रहती है — संगीत का ठुमरुआ, कोठों की नियुक्तियाँ, दुकानदारों की आवाज़, मस्जिदों की खनक। और अब, जब योजना के नाप का बुलडोजर उन गलियों में उतर चुका है, तब सवाल उठता है — क्या नई सड़क बनती है तो बनारस की पुरानी आत्मा कहीं खो जाएगी?

———————————————

संदर्भ-

1) देखो हमरी काशी, पेज नंबर-127, लेखक-हेमंत शर्मा, प्रभात प्रकाशन (प्रकाशन वर्ष-2025)

2) देखो हमरी काशी, पेज नंबर-129 (वही)

जेम्स प्रिंसेप और जोनाथन डंकन का बनारस

बनारस सदियों से गंगा-तट, घाटों और धार्मिक अनुष्ठानों के लिए प्रसिद्ध रहा, **लेकिन** औपनिवेशिक काल में बनारस सिर्फ तीर्थ-नगर तक सीमित नहीं रहा, प्रशासनिक निगरानी और शहरी सुधार की प्रयोगशाला भी बन गया। इस दौर में घाटों को एक ओर धार्मिक-सांस्कृतिक धरोहर के रूप में देखा गया। दूसरी ओर, उन्हें नगर-व्यवस्था, स्वच्छता, यातायात और नदी-तट प्रबंधन के संदर्भ में समझा गया। बनारस के घाटों के संरक्षण में औपनिवेशिक अधिकारियों की भूमिका एक जटिल और विरोधाभासी प्रक्रिया थी।

औपनिवेशिक अधिकारियों की सबसे पहली भूमिका घाटों को देखने और दर्ज करने की रही। 19वीं शताब्दी में अंग्रेज अधिकारियों, सर्वेक्षकों और वास्तुशास्त्र में रुचि रखने वाले व्यक्तियों ने बनारस के घाटों का अध्ययन किया। उन्होंने इन घाटों की बनावट, सीढ़ियों, किनारों, मंदिरों, मढ़ियों और उनसे जुड़े मार्गों को नक्शों और चित्रों में दर्ज किया। इस अभिलेखन ने घाटों को केवल धार्मिक स्थल नहीं, बल्कि शहरी संरचना का हिस्सा बना दिया। जेम्स प्रिन्सेप जैसे अधिकारियों ने बनारस के दृश्य और भौगोलिक रूप को वैज्ञानिक ढंग से समझने की परंपरा को मजबूत किया।

घाटों के संरक्षण में दूसरी भूमिका मरम्मत और सुधार की थी। गंगा के जलस्तर, कटाव, मिट्टी के धंसाव और जल-निकासी की समस्याएँ घाटों के लिए लगातार चुनौती बनी रहती थीं। औपनिवेशिक प्रशासन ने कई स्थानों पर घाटों की सीढ़ियों, किनारों और निकास व्यवस्था को दुरुस्त करने की कोशिश की। यह कार्य केवल धार्मिक भावना से नहीं, बल्कि सार्वजनिक स्वास्थ्य और नगर-प्रबंधन के दृष्टिकोण से किया गया। अंग्रेज अधिकारियों के लिए घाटों की सुरक्षा का अर्थ था नदी-किनारे की स्थिरता, आवागमन की सुविधा और भीड़-प्रबंधन।

घाटों के संरक्षण का एक पक्ष सांस्कृतिक स्वीकार्यता से जुड़ा था। बनारस के घाट औपनिवेशिक अधिकारियों की दृष्टि में भी अत्यंत महत्वपूर्ण थे, क्योंकि वे शहर की पहचान, तीर्थयात्रा और दृश्य भव्यता के केंद्र थे। इसलिए कई बार घाटों को बचाने या उनकी मरम्मत करने की पहल इसीलिए की गई कि बनारस की "प्राच्य" या "पवित्र" छवि बनी रहे। पर्यटन और औपनिवेशिक दर्शनीयता के लिए भी घाटों का आकर्षक बने रहना आवश्यक समझा गया। इस प्रकार संरक्षण का उद्देश्य केवल विरासत की रक्षा नहीं, बल्कि शहर की छवि को बनाए रखना भी था।

अंग्रेजी शासन काल के दौरान ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश अधिकारी प्रशासनिक कामकाज के लिहाज से भारत आए लेकिन उनमें से बेहद कम लोगों ने यहां के लोगों के दिलोदिमाग पर अपने सुधारों और उपलब्धियों के जरिये आम लोगों का दिल जीता। जेम्स प्रिन्सेप और जोनाथन डंकन, दोनों ने बनारस को अलग-अलग तरीकों से रूपांतरित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। डंकन ने मुख्यतः संस्थागत और शैक्षिक ढांचे के स्तर पर, जबकि प्रिन्सेप ने काशी के मानचित्रण, स्वच्छता और दृश्य अभिलेखन के स्तर पर बनारस को बदलने में अपनी अहम भूमिका निभाई।

जोनाथन डंकन 1788 में बनारस में रेजिडेंट बने थे। जून 1787 में ब्रिटिश हुकूमत के गर्वनर जनरल लार्ड कॉर्नवालिस ने डंकन को लोक राजस्व विभाग का सचिव नियुक्त किया। उनकी ईमानदारी, सत्यनिष्ठा और न्यायप्रियता से प्रभावित होकर कार्नवालिस ने डंकन को जुलाई 1788 में बनारस का रेजिडेंट बना दिया। (1) बनारस के रेजिटेंड के तौर पर डंकन की नियुक्ति के समय बनारस में घोर भ्रष्टाचार और कुप्रबंधन व्याप्त था। नागरिक प्रशासन विध्वंस के कगार पर था। जनता शोषण की शिकार थी और कृषि उत्पादन और व्यापार अवनति को ओर था। सन 1775 ईसवी के लखनऊ समझौते के अनुसार, अवध के नबाव ने बनारस के राजा चेत सिंह के अधीन सभी जिलों को ईस्ट इंडिया को सौंप दिया था। किंतु, एक साल बाद कंपनी को 22,66,180 रूपये देने की शर्त पर राजा चेत सिंह को इस भूखण्ड की जमींदारी वापस दी गई। (2)

कॉर्नवालिस ने डंकन की नियुक्ति बहुत सोच-समझकर की थी । उन्हें इस बात का पूरा पता था कि बनारस के रेजिडेंटों की तनख्वाह के अलावा कितनी उपरी आमदनी होती थी।

हेनरी टुडास के नाम 14 अगस्त 1787 के अपने पत्र में उन्होने अपना विचार प्रकट किया था कि बिना किसी अधिकार के भी बनारस के रेजिडेंट को अपनी मनमानी करने का पूरा अधिकार था। कहने को तो रेजिडेंटों की तनख्वाह एक हजार रुपये महीने की होती थी लेकिन सब जोड़कर उसकी आमदनी चार लाख रुपये साल की होती थी। साथ ही, व्यापार पर उसका एकजाई अधिकार होता था। वो जिसे चाहे, परवाना इत्यादि दे सकता था। इस वजह से जेम्स ग्रांट को हटाकर कॉर्नवालिस ने ईमानदार और सच्चरित्र जोनाथन डंकन को उसकी जगह नियुक्त करने का निश्चय किया। (3)

डंकन के पहले के रेजिडेंट फांसिस फौक और जेम्स ग्रांट पर करप्शन के गंभीर आरोप लगे थे। उनकी बेईमानी की वजह से भी बनारस की प्रगति नहीं हो पा रही थी। 5 मार्च 1787 को हेनरी डंडास को लिखे पत्र में गर्वनर जनरल लार्ड कॉर्नवालिस कहते हैं, '' बनारस का प्रशासन तंत्र आज की तिथि में सबसे अधिक भ्रष्टाचार और कुप्रबंधन से युक्त है। ''रेजिडेंट नियुक्त होने पर डंकन को निर्देश दिया गया था कि बनारस के प्रशासन में व्याप्त बुराईयों की समाप्ति के लिए ठोस प्रयास करें और इसके लिए डंकन को कुछ ज्यादा छूट और अधिकार भी दिए गए थे। (4)

डंकन का असर सामाजिक और प्रशासनिक क्षेत्र में भी दिखा। उपलब्ध स्त्रोतों के अनुसार, उन्होंने महिला-हत्या और सती जैसी कुरीतियों के दमन की दिशा में भी काम किया। इस तरह उन्होंने बनारस को केवल धार्मिक नगर नहीं, बल्कि एक ऐसे शहर के रूप में देखा जिसे औपनिवेशिक नैतिक और शैक्षिक ढांचे में ढाला जा सकता था। उनके कार्यों ने बनारस में ब्रिटिश सत्ता और स्थानीय ब्राह्मणिक ज्ञान-परंपरा के बीच एक नया संबंध स्थापित किया।

डंकन ने बनारस में सती-प्रथा और कन्या-हत्या जैसी सामाजिक बुराइयों के दमन की दिशा में पहल की, जिससे ब्रिटिश प्रशासन और स्थानीय समाज के संबंधों में हस्तक्षेप का एक नया चरण शुरू हुआ। उनके कार्यों का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष था 1791 में संस्कृत कॉलेज, बनारस की स्थापना। इसका उद्देश्य हिंदू कानून और दर्शन के अध्ययन को प्रोत्साहन देना था। अब इसे संस्कृत विश्विधालय कहा जाता है।

औपनिवेशिक नीतियों का दूसरा बड़ा प्रभाव शिक्षा के क्षेत्र में दिखाई दिया। 1791 में जोनाथन डंकन द्वारा संस्कृत कॉलेज की स्थापना इस दिशा में निर्णायक कदम थी। इसका उद्देश्य हिंदू कानून, धर्मशास्त्र और संस्कृत अध्ययन को बढ़ावा देना था। बाहर से यह कदम भारतीय परंपरा के संरक्षण जैसा दिखता था, लेकिन वास्तव में इसका उद्देश्य स्थानीय ज्ञान-परंपरा को औपनिवेशिक प्रशासन की आवश्यकताओं के अनुरूप संस्थागत रूप देना भी था। इससे बनारस की विद्वत्ता एक नए औपनिवेशिक ढांचे में समाहित होने लगी।

इस कदम का व्यापक महत्व यह था कि बनारस की पारंपरिक विद्या-प्रतिष्ठा को औपनिवेशिक प्रशासन ने एक औपचारिक संस्थागत रूप दिया। यानी बनारस केवल तीर्थ-नगर नहीं रहा, बल्कि वह संस्कृत, धर्मशास्त्र और वैदिक ज्ञान का औपनिवेशिक केंद्र भी बनने लगा।

18वीं सदी के उत्तरार्ध में ईस्ट इंडिया कंपनी ने बनारस की राजनीति में हस्तक्षेप बढ़ाया। राजा चेत सिंह के साथ कंपनी का संघर्ष इस हस्तक्षेप का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण है। ब्रिटिश अधिकारियों ने राजस्व, सैन्य सहायता और प्रशासनिक नियंत्रण को लेकर लगातार दबाव बनाया, जिससे स्थानीय सत्ता कमजोर हुई। 1781 का बनारस विद्रोह इसी औपनिवेशिक दखल के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया था। इस घटना ने स्पष्ट कर दिया कि बनारस अब स्वतंत्र स्थानीय सत्ता का केंद्र न रहकर ब्रिटिश प्रभुत्व के अधीन होता जा रहा था।

जेम्स प्रिन्सेप की भूमिका

जेम्स प्रिन्सेप के मानचित्रण ने बनारस के तत्कालीन शहरी नियोजन को अधिक वैज्ञानिक, दृश्य और प्रशासनिक बना दिया। उनके काम से बनारस की समस्याएँ पहले से अधिक स्पष्ट हुईं और औपनिवेशिक शासन को यह समझने में मदद मिली कि बनारस को कैसे सुधारा और नियंत्रित किया जाए। इसीलिए प्रिन्सेप को केवल मानचित्रकार नहीं, बल्कि बनारस के शहरी रूपांतरण का एक प्रमुख सूत्रधार भी माना जाता है।

जेम्स प्रिन्सेप 26 नवंबर, 1820 को बनारस पहुंचे और यहां आते ही बनारस ने उनको अभिभूत कर दिया। मार्च 1821 में अपनी बहन को लिखी एक चिट्ठी में जेम्स प्रिंसेप ने कोलकाता से बनारस की अपनी यात्रा की लंबी चर्चा की थी। जेम्स ने बनारस पहुंचने के कुछ ही समय में ही शहर की हर गली और नुक्कड़ों का समझ लिया। इसके साल भर के भीतर उन्होंने सभी मुख्य भवनों के नक्शे तैयार कर लिए थे। फिर स्वयं ही जो विस्तृत सर्वेक्षण किया था, उसके आधार पर जेम्स ने बनारस का पहला मानचित्र तैयार किया। जेम्स ने उसे अपने खर्चे पर प्रकाशित करवाया था। जेम्स के नक्शे की प्रति आज भी काशी हिंदू विश्वविधालय के भारत कला भवन संग्रहालय में देखी जा सकती है। (5)

जेम्स प्रिन्सेप 1820 से 1830 तक बनारस में रहे और इस दौरान उन्होंने शहर का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया. उन्होंने बनारस का सर्वेक्षण, मानचित्रण और चित्रण किया, और Benares Illustrated जैसी कृति के माध्यम से शहर की इमारतों, गलियों, घाटों और सामाजिक जीवन का दृश्य दस्तावेज़ तैयार किया। यह काम बनारस को औपनिवेशिक ज्ञान-परंपरा में दर्ज करने का एक महत्वपूर्ण प्रयास था।

प्रिन्सेप का योगदान केवल दस्तावेज़ीकरण तक सीमित नहीं था। स्रोतों के अनुसार, उन्होंने ड्रेनेज सिस्टम विकसित करने, जल-निकासी सुधारने, पुल निर्माण, और कुछ ऐतिहासिक संरचनाओं के संरक्षण में भी भूमिका निभाई. उन्होंने शहर की जनसंख्या, नगर-विन्यास और बुनियादी ढांचे को मापने-समझने की वैज्ञानिक पद्धति अपनाई, जिससे बनारस एक “मापा हुआ” और “नियोजित” शहर बनने लगा. इसी कारण प्रिन्सेप को बनारस के आधुनिक नगर-रूपांतरण का प्रमुख नाम माना जाता है।

प्रिन्सेप के कार्यों का सबसे प्रत्यक्ष असर जल-निकासी और स्वच्छता पर पड़ा। बनारस जैसे घने और परंपरागत नगर में जलभराव, तालाबों की स्थिति और नालियों का ढांचा बड़ी समस्या थी. प्रिन्सेप से जुड़े नगर-सुधार प्रयासों के जरिए निकासी-प्रणाली सुधारने, रुके हुए पानी को निकालने और कुछ स्थानों पर संरचनात्मक हस्तक्षेप करने की कोशिश हुई। इससे तत्कालीन शहरी नियोजन में स्वास्थ्य और स्वच्छता को शामिल करने की औपनिवेशिक सोच मजबूत हुई।

जेम्स प्रिन्सेप के मानचित्रण का तत्कालीन शहरी नियोजन पर महत्त्वपूर्ण और बहुस्तरीय असर पड़ा। उनके काम ने बनारस को पहली बार एक ऐसे शहर के रूप में प्रस्तुत किया जिसे मापा, देखा, वर्गीकृत किया और प्रशासनिक रूप से समझा जा सकता था। इससे नगर-योजना की औपनिवेशिक दृष्टि को ठोस आधार मिला। उनके मानचित्रण से शहर के भीतर और बाहर आवागमन की जरूरतें भी अधिक स्पष्ट हुईं। जब रास्ते, पुल, घाट और संपर्क-मार्ग नक्शे पर आए, तब प्रशासन के लिए यह तय करना आसान हुआ कि कहाँ पुल चाहिए, कहाँ सड़क चौड़ी करनी है और कहाँ मार्ग को बेहतर बनाना है। बनारस के शहरी जीवन में यह एक बड़ा परिवर्तन था, क्योंकि पहले नगर का विकास अधिकतर परंपरा और धार्मिक उपयोग के आधार पर होता था. प्रिन्सेप के बाद यह विकास अधिक योजनाबद्ध होने लगा।

प्रिन्सेप के सर्वेक्षण और नक्शों ने बनारस की गलियों, घाटों, तालाबों, इमारतों और सड़क-प्रणाली को व्यवस्थित रूप से दर्ज किया। इससे ब्रिटिश प्रशासन को शहर की भौगोलिक संरचना का स्पष्ट ज्ञान मिला और वह केवल धार्मिक नगर नहीं, बल्कि एक प्रशासनीय शहरी इकाई के रूप में देखने लगा। यही ज्ञान आगे चलकर नगर-प्रबंधन, कर-व्यवस्था और सार्वजनिक कार्यों की योजना का आधार बना।

प्रिन्सेप का योगदान केवल ऐतिहासिक या कलात्मक नहीं था, बल्कि भौतिक नगर-परिवर्तन से भी जुड़ा था। उन्होंने जल-निकासी सुधारने के लिए एक सुरंगनुमा संरचना की योजना बनाई, करमनासा नदी पर एक पत्थर का पुल बनाया, और औरंगज़ेब के समय की जर्जर मीनारों की मरम्मत में भी मदद की। इन कार्यों से बनारस के बुनियादी ढांचे, आवागमन और स्वास्थ्य-परिस्थितियों पर असर पड़ा।

साथ ही, प्रिन्सेप ने बनारस को औपनिवेशिक ज्ञान-परंपरा में दर्ज किया। उनके मानचित्र, रेखाचित्र और अवलोकन ने शहर को एक ऐसी इकाई के रूप में प्रस्तुत किया जिसे मापा, समझा और नियंत्रित किया जा सकता था। इस दृष्टि से उन्होंने बनारस को आधुनिक औपनिवेशिक नगर के रूप में पढ़ने की शुरुआत की।

यदि डंकन ने बनारस में संस्थागत ढाँचा खड़ा किया, तो प्रिन्सेप ने उसे दृश्य, वैज्ञानिक और भौगोलिक रूप से समझने की औपनिवेशिक पद्धति विकसित की। डंकन का कार्य

शिक्षा और सामाजिक नीति से जुड़ा था, जबकि प्रिन्सेप का कार्य नगर-नियोजन, अभिलेखन और सांस्कृतिक दस्तावेज़ीकरण से संबद्ध था।

इसलिए बनारस के रूपांतरण की चर्चा में दोनों को एक साथ देखना चाहिए। एक ओर डंकन ने ब्राह्मणिक विद्या को औपनिवेशिक संरक्षण दिया, दूसरी ओर प्रिन्सेप ने शहर की भौतिक और दृश्य संरचना को नया रूप दिया। दोनों ने मिलकर बनारस को एक ऐसे शहर में बदलने का प्रयास किया, जहाँ तीर्थ, ज्ञान, प्रशासन और आधुनिक नगर-व्यवस्था एक साथ मौजूद होने लगे।जोनाथन डंकन ने बनारस को संस्कृत शिक्षा और धर्मशास्त्रीय संस्थाओं के माध्यम से औपनिवेशिक ज्ञान-केन्द्र बनाया, जबकि जेम्स प्रिन्सेप ने मानचित्रण, अभिलेखन और नगर-सुधार के जरिए उसे आधुनिक औपनिवेशिक शहर की दिशा में रूपांतरित किया।

डंकन ने बनारस की शैक्षिक-सांस्कृतिक संस्थागत नींव मजबूत की, जबकि प्रिन्सेप ने उसकी भौतिक, वैज्ञानिक और दृश्य संरचना को नया रूप दिया। डंकन ने बनारस को संस्कृत अध्ययन का औपनिवेशिक केंद्र बनाया। प्रिन्सेप ने उसे आधुनिक नक्शे, चित्र और नगर-सुधार के माध्यम से समझने योग्य शहर में बदला। दोनों के कार्यों ने मिलकर बनारस को तीर्थ-नगर से औपनिवेशिक ज्ञान-नगर की ओर मोड़ने में मदद की।

इन सब प्रयासों की वजह से आर्थिक दृष्टि से भी बनारस पर गहरा असर पड़ा। कंपनी शासन ने कर-संग्रह, व्यापार-नियंत्रण और राजस्व व्यवस्था को अपने हितों के अनुसार ढाला। इससे पारंपरिक कारीगरों, व्यापारियों और हस्तशिल्प पर आधारित स्थानीय अर्थव्यवस्था पर दबाव बढ़ा। बनारस की रेशमी साड़ियों, धार्मिक वस्तुओं, घाट-आधारित व्यापार और तीर्थ-आर्थिक व्यवस्था को औपनिवेशिक बाजार-तंत्र के भीतर काम करना पड़ा। इससे शहर की पुरानी आर्थिक स्वतंत्रता कम हुई और वह ब्रिटिश आर्थिक नीतियों से अधिक प्रभावित होने लगा।

सामाजिक स्तर पर इन नीतियों ने बनारस में एक नई मिश्रित संस्कृति को जन्म दिया। एक ओर ब्राह्मणिक विद्या, मंदिर-परंपरा और तीर्थ-जीवन बना रहा, दूसरी ओर ब्रिटिश प्रशासन, नई शिक्षा प्रणाली और आधुनिक नगर-व्यवस्था विकसित होने लगी। इस

तरह बनारस में परंपरा और औपनिवेशिक आधुनिकता का सह-अस्तित्व बना, जिसमें तनाव भी था और अनुकूलन भी।

18वीं और 19वीं सदी की औपनिवेशिक नीतियों ने बनारस को एक धार्मिक नगर से औपनिवेशिक ज्ञान, शासन और नियंत्रण के केंद्र में बदल दिया। हालांकि बनारस ने अपनी आध्यात्मिक पहचान नहीं छोड़ी, लेकिन उसकी राजनीतिक, आर्थिक और शहरी संरचना गहराई से बदल गई। यही कारण है कि बनारस का औपनिवेशिक इतिहास केवल सत्ता परिवर्तन का नहीं, बल्कि सांस्कृतिक रूपांतरण का भी इतिहास है।

फिर भी इस संरक्षण नीति की सीमाएँ थीं। औपनिवेशिक अधिकारी घाटों को स्थानीय धार्मिक जीवन की जीवित परंपरा के रूप में नहीं, बल्कि एक नियोजित और नियंत्रित स्थल के रूप में देखने लगे थे। कई बार उनकी मरम्मत और सौंदर्यीकरण की कोशिशों में स्थानीय उपयोग, परंपरा और धार्मिक संवेदना गौण हो जाती थी। इसलिए औपनिवेशिक संरक्षण को पूर्ण संरक्षण नहीं, बल्कि आंशिक और हितसाधक संरक्षण कहना अधिक उचित होगा।

कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक अधिकारियों ने बनारस के घाटों को संरक्षित करने की प्रक्रिया में उनके सर्वेक्षण, अभिलेखन, मरम्मत और आंशिक पुनर्निर्माण की भूमिका निभाई। उन्होंने घाटों की सांस्कृतिक महत्ता को स्वीकार किया, लेकिन साथ ही उन्हें औपनिवेशिक नगर-व्यवस्था के ढांचे में ढालने का प्रयास भी किया।

यही कारण है कि बनारस के घाटों का औपनिवेशिक इतिहास केवल संरक्षण का नहीं, बल्कि नियंत्रण, पुनर्गठन और शहरी आधुनिकता के आरंभ का भी इतिहास है।

—----------

संदर्भ-

1) जोनाथन डंकन एंड वाराणसी, पेज नंबर-20

2) बनारस में जोनाथन डंकन, फादर डी.एम. सांतियागो, पेज 101 (काशी-नगरी एक, रूप अनेक)

3) डॉक्टर मोतीचंद्र, काशी का इतिहास, पेज नंबर 321

4) कॉर्नवालिस टू डुंडास, 5 मार्च, 1787, पब्लिक रिकार्ड आफिस, 30/11 बॉक्स 150

5) काशी में जेम्स प्रिंसेप, ओम प्रकाश केजरीवाल, पेज-97 (काशी-नगरी एक, रूप अनेक)

अघोरपंथ का रहस्य और भक्ति की परंपरा

वाराणसी में गंगा घाटों पर ध्यान लगाए, चिलम पीते या कुटिया में बैठकर लोगों को सांसारिक बंधनों से मुक्ति पाने का उपाय बताते साधुओं का दिखना आम है। इससे अलग "अघोरी" साधुओं को लेकर एक रहस्य हमेशा बना रहता है। गोदौलिया जैसे बेहद व्यस्त चौराहे पर भी शरीर पर भस्म लपेटे घूम रहे कई अघोरी साधु मिल सकते हैं। लेकिन उनका जीवन और दर्शन आसान नहीं होता है। आम तौर पर साधुओं की छवि को लेकर भारतीय जनमानस में एक सामान्य धारणा है कि इनका जीवन घुमक्कड होता है। देश के तमाम भागों में किसी मंदिर, मठ या विश्रामगृह में इनका ठिकाना पाया जा सकता है। अघोरी साधुओं को लेकर इनसे एक अलग धारणा है। ऐसा कहना चाहिए कि अघोरी साधुओं को लेकर भारतीय समाज में जो मान्यताएं हैं, उनमें वस्तुस्थिति काफी अलग है।

नागा साधुओं को लेकर भी लोगों में काफी दिलचस्पी देखी जाती है। देश भर के तमाम इलाकों में लगने वाले कुंभ मेला में शाही स्नान या जुलूस के दौरान नागा साधुओं की हिंसक प्रवृति को लेकर काफी कुछ कहा जाता है। 19वीं सदी के एक ब्रिटिश प्राच्यविद्, संस्कृत-विद्वान और अनुवादक एच.एच. विल्सन हिंदू धर्म और संस्कृत साहित्य के अध्येता थे। उन्होंने हिंदू धर्म, संस्कृत साहित्य और पुराणों पर महत्वपूर्ण काम किया। विल्सन ने अपनी पुस्तक हिंदू रिलीजन में कहा है कि हिंदू धर्म में शैव, वैष्णव और शाक्त परंपराएँ विशेष स्थान रखती हैं। उनका मानना है कि हिन्दू धर्म के भीतर इन तीनों प्रमुख धाराओं ने अलग-अलग ईश्वर-केन्द्रित रूप विकसित किए, परंतु वे एक-दूसरे से पूर्णतः अलग नहीं हैं। शैव परंपरा शिव को परम सत्ता मानती है, वैष्णव परंपरा विष्णु और उनके अवतारों को, और शाक्त परंपरा देवी को मूल शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करती है। इन सम्प्रदायों ने अपने-अपने उपासना-स्थल, मंत्र, अनुष्ठान, दार्शनिक व्याख्याएँ और लोक-आस्थाएँ विकसित कीं। विल्सन की दृष्टि में यह विविधता हिन्दू धर्म की कमजोरी नहीं, बल्कि उसकी ऐतिहासिक जीवंतता है।

एच.एच. विल्सन अपनी पुस्तक हिंदू रिलीजन में कहते हैं, "शैव नाग अक्सर दंडी और अतित संप्रदायों के बचे-खुचे सदस्य होते हैं। **यानी** ऐसे लोग जो पढ़ाई या किसी पेशे में रुचि नहीं रखते। जब वे अपनी भटकती और हिंसक आदतों से थक जाते हैं, तो फिर वे उसी सभ्य वर्ग में लौट आते हैं जिसे उन्होंने पहले छोड़ दिया था।" (1)

नागा साधुओं के अलावा, समाज में आज भी "अघोरी" शब्द डर, काला जादू और विचित्र साधनाओं से जुड़ा माना जाता है। अघोरी साधुओं की छवि आम जनमानस के मन में राख से लिपटे, श्मशान में साधना करने और मानव खोपड़ी का उपयोग करने वाले तांत्रिक के रूप में बन चुकी है। टेलीविजन, पत्र-पत्रिकाओं और डिजीटल मीडिया के इस दौर में अघोरी संप्रदाय को अक्सर अतिरंजित और डरावने करीके से पेश किया जाता है, जिससे अघोर संप्रदाय की वास्तविक आध्यात्मिकता धुंधली होती जाती है। यह अतिरंजित छवि उनकी आध्यात्मता, ध्यान और शिव भक्ति को छिपा देती है।

अघोरी साधुओं को बेहद गुस्सैल, चिड़चिड़ा और असभ्य माना जाता है। वास्तव में वे शिव के उपासक और भक्त हैं। अधिकांश अघोरी साधु आध्यात्मिक साधना, ध्यान और शिव भक्ति में लगे रहते हैं। यह भी सच है कि वाराणसी में नकली साधुओं की वजह से वास्तविक अघोरी की छवि धुंधली होती जा रही है। ऐसे में, अघोरी संप्रदाय को मीडिया की अतिरंजित छवि से नहीं, उनकी वास्तविक आध्यात्मिकता और शिव भक्ति से समझना चाहिए ।

कई विद्वान लेखक मानते हैं कि अघोरपंथ एक गूढ़ परंपरा है जिसका उद्देश्य जीवन-मृत्यु के चक्र को समझने और मोक्ष प्राप्त करना है । काशी की अघोर परंपरा को समझने के लिए इसके इतिहास में झांकना पड़ेगा। इतिहास के बारे में जानने से पहले हमें काशी के आदि स्वरूप को जानना होगा। बनारस के पर्यायवाची के तौर पर आनंदवन का जिक्र आता है। इसका उल्लेख मत्सयपुराण और सकंदपुराण के काशी खंड में किया गया है।

अघोर पंथ की भारत में तीन प्रमुख शाखाएं हैं: औघड़, सरभंगी और घुरे। इसी कारण अघोरी साधु श्मशान, राख, मृत्यु और वैराग्य से जुड़े प्रतीकों का उपयोग करते हैं ताकि भय और मोह से ऊपर उठ सकें। ये प्रतीक बाहरी आकर्षण नहीं हैं। ये तमाम आंतरिक

साधना के उपकरण हैं जो साधु को भय, मोह और अहंकार से मुक्त करके शिव-साक्षेत में स्थित करने का कार्य करते हैं।

बाबा कीनाराम (या कीनाराम बाबा) को अघोर पंथ का सबसे प्रमुख संत, सुधारक और संगठक माना जाता है। बचपन से ही उनका झुकाव आध्यात्म और वैराग्य की ओर था। बाद में उन्होंने सांसारिक जीवन छोड़कर साधना का मार्ग अपनाया और अघोर परंपरा के महान गुरु बने। कई लोग उन्हें 16वीं शताब्दी का मानते हैं, लेकिन अधिकांश ऐतिहासिक स्रोत उन्हें 17वीं–18वीं शताब्दी (लगभग 1627–1755 ई.) का संत बताते हैं।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के पूर्व प्रोफेसर और बनारस के जाने-माने संत-साहित्य विशेषज्ञ शुकदेव सिंह ''काशी की अघोर परंपरा'' में कहते हैं, " यह जानना जरूरी है कि कीनाराम वैष्णव से अघोरी क्यों हुए । वे बचपन में विरक्त हो गए थे और संत सिवाराम के शिष्य हो गए थे। प्रसिद्ध होने पर उन्होंने सिवाराम की विचारधारा पर एक ज्ञानखंड " विवेकसार" लिखा और चार वैष्णव स्थान बनाए।

बनारस में अघोर परंपरा के इतिहास को समझने के लिए संत कीनाराम से लेकर बावा भगवान राम, उन्हीं के स्वरूप गुरूपद बाबा संभवराम, संत रामेश्वर राम और बाबा भगवान राम के स्वरूप बाबा सिद्दार्थ गौतम राम तक की एक लंबी अघोर परंपरा है । संत कीनाराम से ही अवधूत, अघोर साधना को क्रमबद्द किया जा सकता है। संत कीनाराम चंदौली तहसील के रघुवंशी परिवार में पैदा हुए। संभवत जोग-क्षेम के लिए इनको तुलसीदास की तरह ही " बेचा" गया और किसी से मोल खरीदा गया। इस वजह से इनका नाम कीराराम अर्थात " खरीदा हुआ" पड़ गया। वहां आज भी रघुपति राघव कीनाराम भजन गाया जाता है। साठ-सत्तर गांवों में रघुवंशी अपने कुल के पूर्व पुरुष की जन्मतिथि " अघोर चतुर्दशी" मनाने के लिए बड़ी संख्या में जुटते हैं। " (2)

अघोर पंथ क्या है?

अघोरपंथ हिंदू धर्म का एक प्राचीन और रहस्यमयी शैव संप्रदाय है, जो सदियों से विचित्र माना जाता रहा है । यह पंथ भगवान शिव के “महाकाल” या “भैरव” स्वरूप की आराधना

करता है । अघोर का शाब्दिक अर्थ है "अ+घोर" यानी जो घोर नहीं हो। डरावना नहीं हो। जो सरल हो। जिसमें कोई भेदभाव नहीं हो । "अघोर" शब्द का अर्थ है-जिसमें कोई भय, घृणा या भेदभाव न हो। अघोरी मानते हैं कि: संसार में कुछ भी अशुद्ध नहीं है। हर वस्तु और हर जीव शिव का ही रूप है। मृत्यु और जीवन दोनों समान सत्य हैं। इसी कारण अघोरी साधु श्मशान, राख, मृत्यु और वैराग्य से जुड़े प्रतीकों का उपयोग करते हैं ताकि भय और मोह से ऊपर उठ सकें।

बाबा कीनाराम ने क्या सुधार किए?

बाबा कीनाराम से पहले अघोर साधना बहुत गुप्त और कठोर मानी जाती थी। उन्होंने इस परंपरा को व्यवस्थित किया और समाज से जोड़ा। उनकी शिक्षा थी: "सबमें शिव हैं, इसलिए किसी से घृणा नहीं करनी चाहिए।" यह शिक्षा अघोर दर्शन के मूल संदेश—सबमें ईश्वर का वास, किसी से घृणा नहीं, समानता और करुणा—को सीधे समाज में प्रतिष्ठित करती है। बाबा कीनाराम के सुधारों ने अघोर पंथ को नया स्वरूप दिया। उन्होंने अघोर साधना को केवल श्मशान, भय और तांत्रिक छवि से बाहर निकालकर मानव सेवा, समानता और आध्यात्मिकता से जोड़ने की कोशिश की। अघोर पंथ को संगठित स्वरूप देकर वे इसे एक सामाजिक आंदोलन के रूप में उभारने की दिशा में कदम बढ़ाया। वाराणसी में क्रीम कुंड आश्रम की स्थापना कर उसे अघोर परंपरा का प्रमुख केंद्र बनाया। जाति-पाति और ऊंच-नीच का विरोध करके उन्होने समानता के संदेश को समाज में प्रतिष्ठित करने की कोशिश किया। बाहरी दिखावे से अधिक आंतरिक साधना पर बल देकर उन्होंने अघोरी साधुओं की छवि को तांत्रिक से भक्त और साधु में बदलने की दिशा में कार्य किया। करुणा, सेवा और समानता का संदेश देकर वे अघोर परंपरा को मानवता से जोड़ा।

अघोर परंपरा की सबसे बड़ी कामयाबी जाति-पाति मुक्त समाज को राम से संबद्ध करने की है। प्रत्येक चलता-फिरता शख्स राम है। चाहे वन में हो या राजा के आसन पर। यह दुर्लभ संयोग है कि राजा के आसन को सिंहासन कहा जाता है और सभी राजकुल के क्षत्रिय अपनी जाति की रक्षा के प्रतीक में " सिंह" शब्द का प्रयोग करते हैं। भगवान बुद्ध के अशोक चक्र में भी सिंह का प्रतीक है। संत कीनाराम, राम कुल के रघुवंशी होते हुए

भी अपने आप को "रघुवंशी" नहीं कहते थे। आज तक भी कोई रघुवंशी या किसी क्षत्रिय वंश का व्यक्ति अपने नाम के आगे "राम" नहीं लगाता है। राम लगाने के लिए पहले क्षत्रिय कुमार कीनाराम को "बिकना" पड़ा। उन्हें बाद में खरीदा गया। मनुष्य की खरीद-फरोख्त दासता का प्रतीक है। इस वजह से देश के गुलाम होने पर सिद्ध और नाथों के भारत में संतों ने और संपन्न जनों ने भी अपने नाम के आगे "दास" लगाया। सूरदास, तुलसीदास से लेकर देश के पहले भारत-रत्न का नाम भी भगवानदास था। संत कीनाराम शायद पहले उच्चवंशी हैं जिन्होंने भक्ति और समर्पण में अपने नाम के साथ "राम" को जोड़ा। (3)

अघोरी साधुओं पर ऐसे तो कई किताब और संदर्भ ग्रंथ हैं लेकिन आध्यात्मिक लेखक पैट्रिक लेवी जो मूल रूप से फ्रांसीसी हैं उन्होंने अपनी पुस्तक बनारस, ''एन आफ्टरनून विथ साधुज '' में एक अलग ही नजरिया रखते हैं। पैट्रिक लेवी एक ऐसे लेखक हैं जिनका लेखन आस्था, साधना, यात्रा और सांस्कृतिक अनुभव के संगम से बनता है। बनारस और साधु-जीवन पर उनकी रचनाएँ हिंदी पाठकों के लिए इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे भारतीय आध्यात्मिक परंपरा को एक जीवंत, मानवीय और संवेदनशील नज़र से प्रस्तुत करती हैं। उनकी बनारस-सम्बंधी पुस्तक साधुओं के साथ बिताए समय और बनारस की आध्यात्मिक संस्कृति पर केंद्रित है। पुस्तक का केंद्रीय भाव बनारस की उस आध्यात्मिक दुनिया को समझना है, जो घाटों, आश्रमों और साधु-संवादों के बीच खुलती है। लेखक साधुओं से मिलने, उनके साथ बैठने, उनकी बातचीत सुनने और उनके जीवन-तरीके को देखने के माध्यम से यह दिखाते हैं कि साधु केवल त्यागी नहीं होते, बल्कि अपने भीतर हास्य, कठोरता, करुणा, अनुशासन और लोक-अनुभवों की जटिलता भी रखते हैं। इस पुस्तक में बनारस की सड़कें, घाट, गंगा-तट और साधु-समाज एक ऐसे दृश्य-लोक की तरह सामने आते हैं जहाँ आध्यात्मिकता रोज़मर्रा की ज़िंदगी से अलग नहीं, बल्कि उसी का हिस्सा है।

अपनी पुस्तक में वो लिखते हैं, '' कुछ देर बाद एक अघोरी साधु आए और अरमानंद बाबा का अभिवादन किया। उन्होंने पीले और लाल रंग के कृत्रिम रेशम के छह चमकदार, हल्के कफ़नों को आपस में बांधकर बनाया हुआ एक लबादा ओढ़ा हुआ था - ये कफ़न

उन्होंने श्मशान भूमि से एकत्र किए थे। उनके हिलने-डुलने से हवा के हल्के झोंके से भी ये कफ़न कांप रहे थे, जिससे ऐसा लग रहा था मानो उनके पंख फड़फड़ा रहे हों। इस पोशाक में वह किसी देवदूत जैसा लग रहे थे। एक अधनंगा देवदूत, जिसकी भूरी त्वचा राख से सनी थी, दाढ़ी-मूंछ और काले रंग की पगड़ी थी। उसकी कमर के चारों ओर लिपटा हुआ एक और कफ़न एक छोटा स्कर्ट जैसा लग रहा था। हिंदू धर्म के कड़े नियमों के अनुसार, शवों को छूने के कारण ये वस्त्र उसे घोर अपवित्र कर देते थे। लेकिन हमारे समूह में किसी को भी पवित्रता या अपवित्रता की परवाह नहीं थी। दोनों अघोरियों ने एक-दूसरे का गर्मजोशी से अभिवादन किया और आदर के प्रतीक के रूप में एक-दूसरे के पैर छुए। अरमानंद बाबा ने उनका परिचय देते हुए कहा, "महावीर अघोरी बाबा, मेरे भाई।" वहां पर मौजूद एक नए शख्स ने कहा, "मैं मणिकर्णिका घाट (श्मशान घाट) पर सोता हूँ।" फिर शरारती मुस्कान के साथ उसने आगे कहा, "रात में बहुत शांति होती है। वहाँ मच्छर नहीं होते। बहुत धुआँ होता है। कुत्ते मेरे आस-पास लेटकर मेरी रक्षा करते हैं और मुझे गर्म रखते हैं।"(4)

कुछ लेखक मानते हैं कि कालांतर में अघोरी पंथ को वो मान्यता नहीं मिल पाई जिसका वो हकदार था। कुछ इसके लिए बाबा कीनाराम के प्रयासों पर भी सवाय उठाते हैं लेकिन सच तो ये है कि बाबा कीनाराम को अघोर परंपरा का पुनर्गठक और समाज सुधारक माना जाना चाहिए। उन्होंने अघोर पंथ को संगठित किया, मानव सेवा और करुणा पर जोर दिया, जाति भेद का विरोध किया, क्रीम कुंड को अघोर परंपरा का प्रमुख केंद्र बनाया, और उनकी शिक्षाएँ आज भी अघोर आश्रमों में जीवित हैं।

क्रीम कुंड आश्रम अघोर परंपरा का प्रमुख केंद्र है, जो अघोर साधना, ध्यान और शिव भक्ति में लगे रहते हैं। वाराणसी में वास्तविक अघोरी बाबाओं की संख्या शायद कुछ दर्जन से लेकर लगभग 100 के बीच हो सकती है, लेकिन सटीक संख्या ज्ञात नहीं है। वाराणसी में नकली साधुओं की वजह से वास्तविक अघोरी की छवि धुंधली होती जा रही है। आजकल वाराणसी में "अघोरी" नाम से कई नकली साधु भी पर्यटकों के बीच दिखाई देते हैं। स्थानीय चर्चाओं और यात्रियों के अनुभवों में अक्सर कहा जाता है कि वास्तविक अघोरी बहुत कम और सामान्यतः सार्वजनिक प्रदर्शन से दूर रहते हैं।

—----------

संदर्भ-

1) एच.एच. विल्सन, '' हिंदू रिलीजन'', पेज नंबर 126, भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली (प्रकाशन सन 2000)

2) शुकदेव सिंह ''काशी की अघोर परंपरा'' पेज संख्या 280, काशी-नगरी एक, रूप अनेक, प्रकाशन विभाग (प्रकाशन सन 2006)

3) शुकदेव सिंह ''काशी की अघोर परंपरा'' पेज संख्या 282, (वही)

4) पैट्रिक लेवी, ''बनारस, एन आफ्टरनून विथ साधुज, '' पेज संख्या-36 (फिंगर प्रिंट पब्लिशिंग, प्रकाश बुक) प्रकाशन सन 2026)

काशी की विद्रोह परंपरा और नवजागरण

काशी या बनारस को सामान्यतः धर्म, आध्यात्म और मोक्ष की नगरी के रूप में जाना जाता है। इसकी एक अन्य महत्वपूर्ण पहचान विद्रोह, वैचारिक स्वतंत्रता और सामाजिक नवजागरण की भूमि के रूप में भी रही है। विद्रोह की अभिव्यक्ति सिर्फ राजनीतिक सत्ता के विरुद्ध नहीं था। यह सामाजिक रुढ़ियों, धार्मिक आडंबरों, जातिगत भेदभाव, सांस्कृतिक जड़ता और अन्यायपूर्ण व्यवस्थाओं के खिलाफ भी था। इस वजह से विभिन्न युगों में अनेक संतों, साहित्यकारों, समाज-सुधारकों और राष्ट्रनायकों ने काशी को अपने विचारों की प्रयोगशाला बनाया । यहीं से परिवर्तन का शंखनाद किया। काशी में विद्रोह की परंपरा रही है। चाहे तुलसीदास का समय हो या कबीर का, भारतेंदु हरिशचंद्र का हो या महात्मा गांधी का सभी ने वाराणसी में विद्रोह का बिगुल बजाया। भारतीय संस्कृति, जनचेतना और बौद्धिक जनजागरण में इसका काफी असर पड़ा।

मध्यकाल में संत कबीर ने बनारस की धरती से धार्मिक पाखंड, कर्मकांड और जाति-व्यवस्था के विरुद्ध निर्भीक स्वर उठाया। उन्होंने हिंदू और मुस्लिम दोनों समाजों की कट्टरताओं की आलोचना करते हुए मानवता, प्रेम और सत्य को सर्वोच्च मूल्य माना। कबीर की वाणी ने भारतीय समाज को आत्मचिंतन के लिए प्रेरित किया और भक्ति आंदोलन को नई दिशा दी। उनका विद्रोह किसी धर्म के विरुद्ध नहीं, बल्कि धर्म के नाम पर फैले अंधविश्वास और विभाजनकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध था।

बनारस में कबीरचौरा को ही कबीर के जन्मस्थान से जोड़कर देखते हैं। उनके पालनहार माता-पिता नीरू और नीमा के घर के आंगन में उनका करघा करीब छह सौ साल से अज भी रखा हुआ है। शायद इस वजह से कि कबीर की विरासत देखते हुए इस देश के लोगों को धर्म और जाति के झगड़े से बाहर निकलकर अपने बारे में कुछ सोचने का अवसर मिले। कवि और आलोचक व्योमेश शुक्ल अपनी पुस्तक ''आग और पानी'' में

लिखते हैं, ''कबीर का घर मूलगादी चारों ओर गलियों से घिरा है। मूलगादी के ठीक पीछे तबलानवाज पंडित गुदई महाराज का घर है। उसकी बगल में पंडित किशन महाराज का घर है। गलियों के इसी जाल में कहीं सिद्धेश्वरी, कहीं राजन-साजन मिश्र का घर है। बनारस घराने के तबले के संस्थापक पंडित रामसहाय की ड्योढ़ी भी यहीं है। ख्याल गायकी के स्थपित पंडित बड़े रामदास का मकान है और इसी संगीतमय रिहाइश के बीच कबीर। कबीरचौरा की यह गली दरअसल जादू और जादूगरों की गली है। इस गली की गमछा पहननेवाली, गालियां बकने वाली, ठठाकर हंसने वाली नागरिकता ने बनारस को ना जाने कितने पद्म पुरस्कार और संगीत नाटक अकादेमी पुरस्कार दिए हैं। इन सब कलाकारों के असल पूर्वज कबीर हैं।'' (1)

पूर्व मध्यकाल के दौरान ही कबीर ने समझ लिया था कि मनुष्य के लिए सबसे कठिन चुनौती ''बाजार'' है। सैकड़ों साल बाद आज भी यह बाजार ही किसी भी देश या काल के लिए आर्थिक, सामाजिक, भाषा या संस्कृति सबके भविष्य का निर्धारण करता है।

काशी का इतिहास लिखने वाले डॉक्टर मोतीचंद्र अपनी पुस्तक में लिखते हैं, ''बनारस में कबीर अपने कुटुम्ब के साथ रहते थे और जुलाहे का कामकाज भी चलाते थे। धार्मिक असहिष्णुता और निरर्थक आचारों के विरोधी होने के कारण कबीर ने बनारसों के पंडितों और सन्यासियों की काफी खबर ली। कुछ दिनों तक वो प्रयाग और मानिकपुर में भी रहे। प्रयाग के उस पार झूसी में रहते हुए शेख तकी नाम के एक सूफी संत से उनकी मुलाकात हुई। कबीर संबंधी एक मुसलमानी अनुश्रुति के अनुसार कबीर के पीर थे। कहावत है कि हिंदू-मुसलमानों में भेदभाव मिटाने के प्रयत्न में सफलता के लिए कबीर को शेख तकी का आर्शीवाद मिला। लेकिन विरोध भावना में उन्हें सफलता मिलनी तो दूर मुसलमान भी इतने बिगड़ गए कि उन्हें कैफियत देने के लिए सुल्तान सिकंदर लोदी ने 1495 ईस्वी में जौनपुर बुलाया। हालांकि, इस कट्टर मुसलमान से भी किसी तरह उनकी जान बच गई। '' (2)

इसी काल में गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने ढंग से सांस्कृतिक विद्रोह का मार्ग अपनाया। उन्होंने संस्कृत के स्थान पर लोकभाषा में रामचरितमानस की रचना कर ज्ञान

को जनसामान्य तक पहुँचाया। यह उस समय की स्थापित परंपराओं के विरुद्ध एक क्रांतिकारी कदम था। तुलसीदास ने भारतीय समाज को नैतिकता, लोकमंगल और सांस्कृतिक एकता का संदेश दिया। उनका यह साहित्यिक विद्रोह भारतीय सांस्कृतिक चेतना को नई ऊर्जा प्रदान करने वाला सिद्ध हुआ।

तुलसीदास के पहले भी भगवान बुद्ध लोगों को जन्म और मृत्यु की पहेली से मुक्ति दिलाने का संकल्प लेकर काशी के समीप पहुंचे थे। वर्ण व्यवस्था की अमानवीयता के खिलाफ उनकी प्रज्ञा ने मनुष्य और मनुष्य में भेदभाव करने वाली आचार-संहिता और भाषा का विरोध किया। उनके बाद पंद्रहवीं से सोलहवीं शताब्दी में कबीर, रैदास और तुलसीदास के रूप में जड़ता को तोड़ने वाला प्रयास सामने आया।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेंदु हरिश्चंद्र (1856-1884) ने काशी को आधुनिक भारतीय नवजागरण का केंद्र बना दिया। उन्होंने हिंदी भाषा, पत्रकारिता, नाटक और साहित्य के माध्यम से अंग्रेज़ी शासन की आर्थिक और सांस्कृतिक नीतियों की आलोचना की। उनका प्रसिद्ध कथन-"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल" सांस्कृतिक स्वाधीनता का घोष था। भारतेंदु ने सामाजिक कुरीतियों, अंधविश्वास और राष्ट्रीय हीनभावना के विरुद्ध वैचारिक संघर्ष छेड़ा, जिसने आधुनिक हिंदी साहित्य और भारतीय राष्ट्रीय चेतना को नई दिशा दी। भारतेंदु हिंदी नवजागरण की बहुत अहम कड़ी के तौर पर सामने आए थे। साहित्य को उन्होंने आत्मसुख या यश प्राप्त करने का साधन नहीं बल्कि उस जमाने को बदलने या परिवर्तन का जोरदार हथियार बनाया। उनकी ''कवि वचन सुधा'', ''बाल बोधिनी'', ''काशी पत्रिका'' और ''हरिश्चंद्र चंद्रिका'' जैसी पत्र-पत्रिकाएं सामाजिक और साहित्यिक मुद्दे पर फैली हुई जड़ता को तोड़ने की कोशिश थी।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ऐसे विचारक जो गुलामी की मानसिकता को तोड़ने के लिए उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों से सीधे टकराने से बाज नहीं आए। काशी हिंदू विश्वविद्धालय में इतिहास पढ़ाने वाले शिक्षक राकेश पांडे अपने लेख स्वतंत्रता संग्राम में बनारस का योगदान में लिखते हैं,'' 19 वीं शताब्दी के प्रारंभ से, जहां बंगाल के नवजागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय अंग्रेजी राज को ईश्वर का वरदान कह रहे थे, जहां बंकिमचंद्र जैसे लोग अंग्रेजी राज को ईश्वरीय बता रहे थे, वहीं भारतेंदु ने निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति

के मूल के डिम-डिम घोष से भारतीयों में स्वदेशी और स्वभाषा के गौरव की बात से गुलामी की मानसिकता तोड़ रहे थे। मदनमोहन मालवीय का सन 1897 में देवनागरी लिपि में न्यायालयों के काम की मांग तथा वाराणसी में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि तैयार करता है।'' (3)

बीसवीं शताब्दी में महात्मा गांधी ने भी काशी की चेतना को नई प्रेरणा दी। 1916 में काशी में दिए गए उनके ऐतिहासिक भाषण ने तत्कालीन भारतीय अभिजात वर्ग, राजाओं और सामाजिक विषमताओं पर तीखा प्रश्नचिह्न लगाया। गांधी ने धार्मिक आडंबर के साथ-साथ सामाजिक असमानता और राष्ट्रीय दासता के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान किया। उनके विचारों ने स्वतंत्रता आंदोलन को जन-आंदोलन का स्वरूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और काशी इस वैचारिक परिवर्तन की साक्षी बनी।

काशी की विद्रोही परंपरा का प्रभाव केवल साहित्य या राजनीति तक सीमित नहीं रहा। इसने भारतीय संस्कृति को आत्मालोचन की शक्ति दी, समाज में समानता और मानवीय मूल्यों की चेतना को मजबूत किया तथा शिक्षा, भाषा, पत्रकारिता और जनजागरण के नए आयाम स्थापित किए। यहाँ का विद्रोह विनाश का नहीं, बल्कि सृजन, सुधार और पुनर्निर्माण का विद्रोह था। इसने परंपरा और परिवर्तन के बीच संतुलन स्थापित करते हुए भारतीय सभ्यता को समयानुकूल विकसित होने की प्रेरणा दी।

इस प्रकार काशी केवल मंदिरों और तीर्थों की नगरी नहीं, बल्कि विचारों की राजधानी भी है। कबीर की निर्भीकता, तुलसी की लोकचेतना, भारतेंदु का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और गांधी का नैतिक प्रतिरोध—ये सभी मिलकर काशी की उस गौरवशाली परंपरा का निर्माण करते हैं। इन तमाम चीजों ने भारतीय संस्कृति, जनचेतना और बौद्धिक नवजागरण को गहराई से प्रभावित किया। काशी को भारतीय इतिहास में केवल आस्था का केंद्र नहीं, बल्कि परिवर्तन और वैचारिक क्रांति की शाश्वत भूमि के रूप में भी स्मरण किया जाना चाहिए।

—----------

संदर्भ-

1) व्योमेश शुक्ल, ''आग और पानी'', पेज संख्या 114 (प्रकाशन वर्ष- छठा संस्करण, 2025)

2) डॉक्टर मोतीचंद्र, ''काशी का इतिहास'', पेज नंबर 200 (प्रकाशन वर्ष 1962, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर सीरीज)

3) राकेश पांडे, '' स्वतंत्रता संग्राम में बनारस का योगदान'' पेज नंबर 153, काशी-नगरी एक, रूप अनेक (प्रकाशन वर्ष 2006) प्रकाशन विभाग

वाराणसी के बुनकरों का संकट और भविष्य

वाराणसी की पहचान केवल घाटों, मंदिरों और आध्यात्मिक संस्कृति से नहीं बल्कि बनारसी साड़ी और रेशम बुनाई परंपरा से भी है। यह परंपरा सदियों से शहर की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनधारा का हिस्सा रही है। बुनकर समुदाय, जो कभी वाराणसी की शान माना जाता था, अब घटती आय, बढ़ती लागत, बाज़ार के दबाव और तकनीकी बदलावों के बीच अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है।

वाराणसी में बुनाई का इतिहास बहुत पुराना है। मुगल काल में रेशमी वस्त्रों और जरीदार साड़ियों की मांग बढ़ने से बनारस इस कला का प्रमुख केंद्र बन गया। समय के साथ बनारसी साड़ी अपनी महीन कारीगरी, जरी, बूटा, जाल और पारंपरिक डिज़ाइनों के कारण देश-विदेश में प्रसिद्ध हुई। यह केवल एक वस्त्र नहीं, बल्कि शिल्प, श्रम और सांस्कृतिक स्मृति का प्रतीक बनी। आज भी वाराणसी के अनेक मोहल्लों में बुनाई घर-घर के काम की तरह मौजूद है, लेकिन इसकी आर्थिक स्थिति पहले जैसी नहीं रही।

इक्सवीं सदी के दूसरे दशक में हैंडलूम के बदले पावरलूम का चलन बढ़ता गया। 1950 के दशक में कुछ समय के लिए बनारस में पावरलूम शुरू किए गए थे। हैंडलूम उद्योग को असली झटका तब लगा जब नब्बे के दशक में पावरलूम पर लगी कुछ पाबंदियां हटा लेने से हैंडलूम और पावरलूम में आपसी प्रतिद्वंध्दिता शुरू हो गई। बनारस के कई बुनाई केन्द्रों में हैंडलूम बुनाई अभी भी की जा रही है । चुनौती ये है कि धागे की लागत अधिक होने और शुद्ध रेशम की साड़ियों की घटती मांग के कारण अब ये कारोबार मुनाफे का सौदा नहीं रह गया है।

ये बदलाव बनारस के बुनकरों के लिए फायदेमंद नहीं था क्योंकि ये इलाका हमेशा से बेहतर क्वालिटी वाले हैंडलूम प्रोडक्ट, खासकर साड़ियों के लिए जाना जाता था। दस साल पहले यानी 2016 के वस्त्र मंत्रालय के आंकड़ों के मुताबिक बनारस में अभी भी

करीब 19,718 हैंडलूम बुनकर परिवार हैं। उसी मंत्रालय के एक सर्वेक्षण में बताया गया है कि करीब 9906 सहायक बुनकर हैं जो अपने हाथों से बनारसी साड़ी बुन रहे हैं। (1)

साड़ी को मांगलिकता का प्रतीक माना जाता है। इसके बगैर उत्तर भारत की किसी शादी में नई नवेली ब्याहता दुल्हन की कल्पना करना मुश्किल है। इसके बावजूद वाराणसी के बुनकरों की स्थिति बहुत कमजोर है। अनेक परिवार सीमित आमदनी में जीवन बिता रहे हैं। उनकी शिकायत है कि सरकार के तमाम प्रयासों के बावजूद कई बुनकरों को लगातार काम नहीं मिल पाता।

कई रिपोर्टों में यह तथ्य सामने आया है कि बुनकरों के घरों में रोशनी, हवा, साफ़-सफाई और बुनियादी सुविधाओं की कमी है। उनके जीवन स्तर पर गरीबी का गहरा असर दिखता है। कई परिवारों में बच्चों की पढ़ाई बीच में छूट जाती है। घर की आय इतनी नहीं होती कि शिक्षा का खर्च उठाया जा सके।

बनारस क बुनकरों की स्थिति पर करीब दो दशकों से शोध करने वाली और दिल्ली स्थित महिला विकास केन्द्र की पूर्व प्रोफेसरियल फेलो वासंती रामन अपनी पुस्तक '' मिजाज-ए-बनारस, बनारस के बुनकर'' में लिखती हैं,'' हैंडलूम से पावरलूम की ओर रूख के साथ -साथ सिल्क और कॉटन जैसे हाथ के बने हुए आर्गेनिक कपड़ों की जगह कृत्रिम कपड़ों के आने की प्रक्रिया भी तेज हो चली है। धागे की लागत में बहुत बड़ा अंतर दिख रहा है। शुद्ध रेशम या असली धागे की कीमत चार हजार रूपये प्रति किलोग्राम थी जबकि कृत्रिम धागे की कीमत मात्र चार सौ रूपये प्रति किलो। पावरलूम एक ही डिजाइन और बुनाई का उपयोग करते हुए एक जैसे कपड़े तैयार करते हैं। जो कुशल हैंडलूम मुसलमान कारीगर पहले शुद्ध रेशम साड़ियां बुना करते थे, वही आज पावरलूम पर कलात्मक बनारसी साड़ी की बुनाई कर रहे हैं। इनके बारे में बनारस के व्यापारी बड़े गर्व से कहते हैं कि साड़ियां सूरत के पावरलूम पर बनी साड़ियों से काफी अलग है। ग्राहक इनके (पावरलूम पर बने नकली रेशम) और हैंडलूम से बुने गए शुद्ध रेशमी साड़ी के बीच फर्क नहीं कर पाएंगे। (2)

वासंती रामन के मुताबिक इस उद्योग में मुसलमान अब केवल बुनकर नहीं रह गए हैं। अब वे बड़ी तादाद में गृहस्थ और गद्दीदार बन चुके हैं। इन रूपों में बाजार से उनका सीधा संपर्क है। उनकी युवा पीढ़ी पढ़ी-लिखी है। बाजार से संपर्क करने के लिए इंटरनेट का इस्तेमाल कर रही है। हिंदुओं के बीचल मुख्य रूप से पटेल, राजभर, मौर्य जैसे ओबीबी समुदाय के लोग बुनाई का पेशा अपना रहे हैं। लोहता, सराय मोहाना जैसे बनारस से सटे इलाकों से आने वाले इन समुदाय ने पावरलूम लगाए हैं। वो मुसलमान गद्दीदारों के लिए भी काम करते हैं। वो बुनाई के साथ खेती-बाड़ी से भी जुड़े हैं। आमतौर पर उनको बनारस के मुसलमान बुनकरों की तरह जगह की किल्लत नहीं होती।

बनारस में पावरलूम उद्योग एक विस्तृत और जटिल संरचना है। इसमें सबसे उपर गृहस्थ-गद्दीदार होते हैं। उसके नीचे दो से चार पावरलूम वाले, और सबसे नीचे साधारण बुनकर और कारीगर होते हैं जिनकी जिंदगी बेहद अव्यवस्थित होती है। इन बनकरों को उतनी ही बुनाई करनी होती है जितना कहा जाता है। बुनी गई साड़ी या कपड़े की लंबाई के मुताबिक प्रत्येक पीस रेट के हिसाब से उसका भुगतान किया जाता है। सामान्य बुनकर या कारीगर हर रोज करीब 8 से 10 घंटे काम करके 400 से 500 रूपये कमा लेता है। एक बड़ी समस्या यह है कि बुनाई अब लाभकारी व्यवसाय नहीं रह गई है। काम अधिक है, लेकिन मेहनत के मुकाबले आमदनी कम है। जरी, रेशम, रंगाई, बिजली, धागा, और अन्य कच्चे माल की लागत लगातार बढ़ी है। दूसरी ओर, बाज़ार में ग्राहकों की क्रय-क्षमता और पारंपरिक साड़ियों की मांग उतनी तेज़ नहीं रही। इसके चलते कई बुनकर कर्ज़ में फँसते गए हैं।

बुनकरों की प्रमुख चुनौतियां

वाराणसी के बुनकरों के सामने सबसे बड़ी चुनौती आर्थिक अस्थिरता की है। नोटबंदी, जीएसटी, लॉकडाउन, महँगाई, बिजली संकट और भुगतान में देरी ने इस उद्योग को गहरा झटका दिया। कोरोना काल में अनेक कार्यशालाएँ बंद हो गईं। करघे ठप पड़ गए और बुनकरों को भारी नुकसान उठाना पड़ा। कई लोगों ने अपने करघे बेच दिए या दूसरे कामों की ओर रुख किया। दूसरी बड़ी चुनौती नकली और मशीन से बनी साड़ियों की है। बाज़ार में "बनारसी" नाम से बिकने वाले कई उत्पाद असली हाथकरघा नहीं होते। इससे

असली बुनकरों की पहचान और आय दोनों प्रभावित होती हैं। ग्राहक अक्सर असली और नकली उत्पाद में अंतर नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप पारंपरिक शिल्प की कीमत घटती जाती है। तीसरी चुनौती युवा पीढ़ी का पेशे से दूरी बनाना है। आज के युवा बुनाई को सुरक्षित भविष्य नहीं मानते। कम आय, कठिन श्रम और अस्थिर बाज़ार के कारण वे दूसरी नौकरियों की ओर जाना चाहते हैं। इससे पारंपरिक ज्ञान के हस्तांतरण पर भी खतरा पैदा हो गया है। यदि नई पीढ़ी इस पेशे से नहीं जुड़ती, तो सदियों पुरानी तकनीक और डिज़ाइन धीरे-धीरे कमजोर पड़ सकती हैं।

बाज़ार और नीतिगत दबाव

बुनकरों की समस्या केवल उत्पादन तक सीमित नहीं है, बल्कि पूरे बाज़ार तंत्र से जुड़ी हुई है। भुगतान में देरी, पूंजी की कमी, सहकारी ढाँचों की कमजोरी और व्यापारियों पर निर्भरता ने बुनकरों को असुरक्षित बना दिया है। अनेक छोटे बुनकर सीधे बाज़ार तक नहीं पहुँच पाते, इसलिए उन्हें बिचौलियों पर निर्भर रहना पड़ता है। इससे मुनाफ़ा कम हो जाता है। सरकारी योजनाएँ मौजूद हैं, लेकिन उनका लाभ हर बुनकर तक नहीं पहुँच पाता। कई योजनाएँ कागज़ी स्तर पर हैं, जबकि ज़मीनी स्तर पर सरल पहुँच, प्रशिक्षण, डिज़ाइन सहयोग, गुणवत्ता नियंत्रण और विपणन सहायता की कमी बनी हुई है। इसके अलावा, निर्यात बाजार में भी उतार-चढ़ाव का सीधा असर पड़ता है। जब विदेशी माँग घटती है, तो स्थानीय बुनकर सबसे पहले प्रभावित होते हैं।

स्वास्थ्य और जीवन-स्थिति

बुनकरों की कामकाजी स्थिति भी कठिन है। लंबे समय तक एक ही मुद्रा में बैठकर काम करने से कमर, गर्दन, आँखों और जोड़ों की समस्याएँ आम हैं। कई घरों में करघे के साथ ही रहने की जगह होती है, जिससे जीवन और काम का अलगाव नहीं हो पाता। यह स्थिति मानसिक तनाव भी बढ़ाती है। आय की अनिश्चितता, कर्ज़ और सामाजिक दबाव कई परिवारों को असुरक्षा की भावना में जीने को मजबूर करते हैं।

भविष्य की संभावनाएं

इसके बावजूद वाराणसी के बुनकरों का भविष्य पूरी तरह अंधकारमय नहीं है। बनारसी साड़ी की वैश्विक पहचान अभी भी बनी हुई है। यदि सही नीतियाँ अपनाई जाएँ, तो इस परंपरा को नया जीवन दिया जा सकता है। सबसे पहले असली हाथकरघा उत्पादों की पहचान और संरक्षण जरूरी है। प्रमाणन, ब्रांडिंग और जीआई टैग के प्रभावी उपयोग से नकली उत्पादों पर रोक लग सकती है। बुनकरों को कच्चे माल की सुलभ आपूर्ति, सस्ता ऋण, समय पर भुगतान और बिजली में राहत मिलनी चाहिए। तीसरे, डिज़ाइन नवाचार और आधुनिक बाज़ार की समझ को पारंपरिक बुनाई से जोड़ा जाना चाहिए। अगर बुनकरों को डिजिटल मार्केटिंग, ई-कॉमर्स और प्रत्यक्ष बिक्री से जोड़ा जाए, तो वे बिचौलियों पर निर्भर नहीं रहेंगे। इससे उनकी आय बढ़ सकती है।

वाराणसी के बुनकर केवल एक आर्थिक वर्ग नहीं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक विरासत के वाहक हैं। उनकी स्थिति आज संकटग्रस्त है, लेकिन यह संकट केवल आजीविका का नहीं, बल्कि एक संपूर्ण शिल्प-परंपरा के भविष्य का संकट है। यदि नीति, बाज़ार और समाज मिलकर इस समुदाय को समर्थन दें, तो बनारसी बुनाई फिर से सशक्त हो सकती है। इसके लिए केवल सहानुभूति नहीं, बल्कि ठोस हस्तक्षेप की आवश्यकता है। बनारसी साड़ी की चमक तभी बनी रहेगी, जब उसके पीछे का बुनकर सुरक्षित और सम्मानजनक जीवन जी सके।

सारनाथ के पास भी कई बुनकर बस्तियां हैं। हिंदी के प्रसिद्ध साहित्यकार मुंशी प्रेमचंद का गांव लमही यहां से करीब तीन किलोमीटर दूर है। यह बस्ती ऐसे कारीगर परिवारों की बस्ती है, जिनकी आजीविका का आधार हथकरघा, रेशमी धागा, ज़री और पारंपरिक बुनाई-कौशल रहा है। यहाँ का जीवन केवल घरेलू श्रम का जीवन नहीं, बल्कि पीढ़ियों से संचित ज्ञान, तकनीक और सांस्कृतिक स्मृति का भी जीवन है। यहाँ बुनाई केवल एक व्यवसाय नहीं, बल्कि एक सामाजिक-सांस्कृतिक परंपरा है। घरों के भीतर करघे लगे रहते हैं, और पुरुषों के साथ-साथ महिलाएँ भी कताई, धागा-संस्कार, डिज़ाइन-सम्बद्ध काम और सहायक कार्यों में भाग लेती हैं। इस बस्ती में बनारसी साड़ी की बुनाई से जुड़ी कला का प्रत्यक्ष रूप दिखाई देता है, जिसमें बारीक नमूनों, अलंकरण

और श्रम-साध्य तकनीक का विशेष महत्व है। यही कारण है कि यह इलाका बनारसी वस्त्र-परंपरा की जीवित प्रयोगशाला जैसा लगता है।

———————————————

संदर्भ

1) दैनिक हिंदूस्तान, बनारस संस्करण, 18 दिसंबर 2018

2) वासंती रामन, '' मिजाज-ए-बनारस, बनारस के बुनकर',पेज नंबर-50, सेतु प्रकाशन, (प्रथम संस्करण 2024)

विदेशी लेखकों, पर्यटकों और शोधकर्ताओं की नजर में बनारस

विदेशी लेखकों की काशी-विषयक रचनाएँ बनारस के धार्मिक, सांस्कृतिक और नगर-ऐतिहासिक अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्राथमिक स्रोत हैं। साल 1820 से 1983 के बीच लिखे गए विवरणों में मार्क ट्वेन, जॉन मर्डक, सैमुअल बील, सेरिंग मैथ्यू, राल्फ फिच, आर्थर पार्कर, एडविन ग्रीव्स और नेविल एच. आर. जैसे लेखकों के वृत्तांत मिलते हैं। इनमें आदि विश्वेश्वर, काशी विश्वनाथ, घाट-परंपरा और तीर्थ-जीवन का विस्तृत उल्लेख है।

विदेशी लेखकों और पर्यटकों में सबसे पहला नाम मार्क ट्वेन का लिया जाना चाहिए। उनका जन्म अमेरिका के फ्लोरिडा में 30 नवम्बर 1835 को हुआ था। बनारस के बारे में उनका कथन आज भी लोकप्रिय है जिसमें कहा गया था, '' बनारस इतिहास के पुराना है। यह परम्पराओं से भी अधिक पुराना है। यहां तक की किंवदंतियों से भी पुराना है। वस्तुत देखने पर इन सभी को मिलाकर इनसे दुगुना पुराना है।''

मार्क ट्वेन की खुद की बारे में की गई भविष्यवाणियां भी सटीक निकलीं। मसलन, 1929 में उन्होंने कहा था, मैं 1835 में हेली कॉमेट (धूमकेतु) के साथ आया था। मुझे आशा है कि इसके साथ ही चला जाउंगा। सही में उनकी भविष्यवाणी सच निकली। 1910 में एक बार फिर हेली कॉमेट पृथ्वी के पास नजर आया। उसके एक दिन बाद ही 21 अप्रैल 1910 में रेडिंग, कनेक्टिकट में मार्क ट्वेन की मृत्यु हो गई। अपने 75 साल के जीवन में मार्क ट्वेन ने उपन्यास, व्यंग, निबंध और आलोचना समेत 60 से ज्यादा पुस्तकें लिखीं। उन्होंने अनेक देशों की यात्राएं की और दिलचस्प यात्रा वृतांत भी लिखे। बनारस के बारे में उनकी पुस्तक '' फॉलोइंग द इक्वेटर'' में जिक्र मिलता है। मार्क इलाहाबाद (प्रयागराज) होते हुए बनारस पहुंचे थे। इस यात्रा के दौरान उन्होंने कुंभ मेला

देखा था। इस बारे में उन्होने लिखा है, ''भारत में बीस लाख भगवान (देवता) हैं और लोग इन सबकी पूजा करते हैं। धर्म के मामले में हम सब कंगाल हैं। आरत की अकेला करोड़पति है। ''

ई. बी. हावेल की '' बनारस'' तथा आर्थर पार्कर की '' हैंडबुक आफ बनारस'' जैसी कृतियाँ विशेष रूप से नगर की कला, स्थापत्य और धार्मिक भूगोल को समझने में सहायक हैं। इन ग्रंथों की विशेषता यह है कि वे काशी को केवल एक तीर्थस्थल नहीं, बल्कि एक जीवंत सभ्यता के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जहाँ आस्था, दिनचर्या और परंपरा साथ-साथ विकसित हुई हैं। बनारस पर विदेशी लेखन का अध्ययन न केवल तुलनात्मक इतिहास के लिए उपयोगी है, बल्कि यह नगर की दीर्घ सांस्कृतिक निरंतरता को भी रेखांकित करता है।

विदेशी यात्रावृत्तांत और निबंध बनारस को तीर्थ, नगर-व्यवस्था और सांस्कृतिक जीवन के मिश्रित चित्र के तौर पर पेश करते हैं। ये ग्रंथ धार्मिक परंपरा, घाट-जीवन, प्रमुख मंदिर (विशेषकर काशी/काशी विश्वेश्वर) और शहरी स्थापत्य-आलेख पर विस्तृत टिप्पणियाँ देते हैं। इनमें राल्फ फिच (लगभग 1550–1611) का नाम बेहद अहम है जो इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध व्यापारी, यात्री और अन्वेषक थे। वे उन प्रथम अंग्रेज़ यात्रियों में गिने जाते हैं जिन्होंने मुगल सम्राट अकबर के शासनकाल में भारत की यात्रा की। उनकी भारत-यात्रा (1583–1591) ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना (1600) से पहले हुई थी। भारत, बंगाल, बर्मा और दक्षिण-पूर्व एशिया की उनकी यात्राओं ने अंग्रेज़ व्यापारियों को पूर्वी देशों के व्यापारिक और सांस्कृतिक महत्व से परिचित कराया।

राल्फ फिच की बनारस की यात्रा

राल्फ फिच लगभग 1585 ई. में आगरा से इलाहाबाद होते हुए गंगा मार्ग से बनारस पहुँचे। वे भी एक व्यापारी थे। उनकी दृष्टि केवल धार्मिक स्थलों तक सीमित नहीं रही, उन्होंने नगर की आर्थिक गतिविधियों, व्यापार, नदी-परिवहन तथा सामाजिक जीवन का भी सूक्ष्म अवलोकन किया। उनकी यात्रा-वृत्तांत बाद में रिचर्ड हैकल्युट द्वारा संपादित ग्रंथ The Principal Navigations, Voyages, Traffiques and Discoveries of the English Nation (1599) में

प्रकाशित हुआ, जिसके कारण बनारस का यह विवरण अंग्रेज़ी भाषा में उपलब्ध सबसे प्रारम्भिक प्रत्यक्ष स्रोतों में सम्मिलित हो गया।

फिच ने बनारस को हिन्दुओं का अत्यन्त पवित्र तीर्थस्थल बताया। उन्होंने लिखा कि दूर-दूर से आने वाले श्रद्धालु गंगा में स्नान करते हैं और इसे आत्मिक शुद्धि तथा मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते हैं। उनके अनुसार बनारस केवल एक नगर नहीं, बल्कि सम्पूर्ण हिन्दू समाज की धार्मिक आस्था का केन्द्र था। एक व्यापारी होने के कारण फिच ने बनारस के बाज़ारों और व्यापार पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने देखा कि तीर्थयात्रा से स्थानीय अर्थव्यवस्था को बल मिलता था। यात्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के व्यापार विकसित हो चुके थे तथा गंगा के माध्यम से वस्तुओं का व्यापक परिवहन होता था। फिच ने नगर के जनजीवन, धार्मिक उत्सवों, स्नान, दान तथा श्मशान संस्कारों का भी उल्लेख किया। यद्यपि उनका विवरण संक्षिप्त है, फिर भी यह सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बनारस की सामाजिक संरचना का महत्वपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है।

राल्फ फिच का यात्रा-वृत्तांत बनारस का सबसे प्रारम्भिक अंग्रेज़ी प्रत्यक्ष वर्णनों में से एक माना जाता है। उन्होंने जो कुछ लिखा, वह स्वयं के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित था, इसलिए उनका विवरण इतिहासकारों के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्राथमिक स्रोत है। फिच का लेखन केवल यात्रा-वर्णन नहीं है, बल्कि उसमें इतिहास, समाज, धर्म और अर्थव्यवस्था का समन्वित चित्र मिलता है। इसलिए उनके विवरण को "ऐतिहासिक-नैरेटिव टिप्पणी" कहा जाता है। उन्होंने घटनाओं और अनुभवों को कथा-शैली में प्रस्तुत करते हुए नगर की समग्र छवि उकेरी। उनके विवरण से ज्ञात होता है कि मुगल सम्राट अकबर के शासनकाल में भी बनारस हिन्दू धार्मिक जीवन का प्रमुख केन्द्र था। गंगा स्नान, तीर्थयात्रा, पूजा-पद्धति और ब्राह्मणों की भूमिका के उनके वर्णन उस समय की धार्मिक परम्पराओं को समझने में सहायक हैं।

बनारस के इतिहास पर कार्य करने वाले अनेक आधुनिक इतिहासकार राल्फ फिच के विवरण का उपयोग करते हैं। उनका वृत्तांत सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के यात्रियों—जैसे जाँ-बाप्तिस्त तावर्निए, फ़्राँस्वा बर्नियर और निकोलाओ मनुच्ची—के विवरणों की

तुलना के लिए आधार प्रदान करता है। राल्फ फिच का बनारस-वर्णन आकार में संक्षिप्त होने पर भी अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत है। उन्होंने लगभग 1585 ई. के बनारस का ऐसा प्रत्यक्ष चित्र प्रस्तुत किया जिसमें धर्म, समाज, व्यापार, गंगा और तीर्थ-परम्परा सभी का संतुलित वर्णन मिलता है। उनका विवरण यह सिद्ध करता है कि मुगल काल में बनारस केवल आध्यात्मिक केन्द्र ही नहीं, बल्कि उत्तर भारत का एक जीवंत आर्थिक और सांस्कृतिक नगर भी था। इस कारण राल्फ फिच का यात्रा-वृत्तांत बनारस के प्रारम्भिक इतिहास के अध्ययन के लिए एक विश्वसनीय और अनिवार्य प्राथमिक स्रोत माना जाता है।

राल्फ फिच के अलावा, जॉन मर्डक की पुस्तक '' काशी और बनारस द होली सिटी आफ हिंदूज'' करीब डेढ़ सौ साल पहले लिखी गई थी। यह किताब जनवरी 1897 में प्रकाशित हुई थी, और उसी रिकॉर्ड में इसे जॉन मर्डक की रचना बताया गया है। एक रिपोर्ट के अनुसार जॉन मर्डक ने यह पुस्तक बनारस यात्रा के बाद लिखी थी। वहाँ उनका बनारस-प्रवास 1830 के बाद बताया गया है। मर्डक ने बनारस के प्रमुख मंदिरों, तीर्थ-आचार और नगर के धार्मिक चक्रों का वर्णन दिया। वे काशी को 'हिन्दुओं का पवित्र नगर' बताते हैं और तीर्थ-जीवन की सामाजिक-धार्मिक महत्ता पर जोर देते हैं।

सैमुअल बील ने चीनी बौद्ध यात्री ह्यूनसांग और फाहियान के मूल ग्रंथों का अँगरेजी में अनुवाद करके बनारस पर यात्रावृत्तांत और स्थानीय जीवन के लोक-आधारित वर्णन किया है। विशेषकर घाटों और तीर्थ-यात्रियों के व्यवहार पर उनकी टिप्पणियाँ दिलचस्प हैं। इनके लेखन में जन-जीवन और आस्था का लोक-प्रतीकात्मक पहलू उभरकर आता है। इसी तरह सेरिंग मैथ्यू 1868 के आसपास बनारस की यात्रा करने वाले लेखकों में शामिल थे। उन्होंने नगर की धार्मिकता, घाट-परंपरा और मंदिरों से जुड़ी प्रथाओं का विस्तृत वर्णन दिया।

आर्थर पार्कर (1858-1933) ब्रिटिश शासनकाल के एक वरिष्ठ प्रशासक, इतिहास-रुचि संपन्न विद्वान तथा लेखक थे। वे भारतीय सिविल सेवा (इंडियन सिविल सर्विसेज) के अधिकारी थे और उत्तर भारत में विभिन्न प्रशासनिक पदों पर कार्यरत रहे।

बनारस में उनके कार्यकाल ने उन्हें नगर के इतिहास, धार्मिक परंपराओं, मंदिरों, घाटों और सांस्कृतिक जीवन का निकट से अध्ययन करने का अवसर प्रदान किया।

आर्थर पार्कर ने अपने प्रशासनिक अनुभव तथा उपलब्ध ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर "ए हैंडबुक आफ बनारस " नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की, जो औपनिवेशिक काल में बनारस पर लिखी गई सबसे महत्त्वपूर्ण अंग्रेज़ी पुस्तकों में से एक मानी जाती है।इस पुस्तक का प्रथम संस्करण 1895 में प्रकाशित हुआ। इसकी लोकप्रियता के कारण बाद में 1901 सहित अन्य संस्करण भी प्रकाशित किए गए। यह पुस्तक तत्कालीन ब्रिटिश अधिकारियों, यूरोपीय यात्रियों, शोधकर्ताओं तथा भारत के धार्मिक एवं ऐतिहासिक नगरों में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए तैयार की गई थी।

हैंडबुक ऑफ बनारस" केवल एक यात्रा-मार्गदर्शिका नहीं है, बल्कि यह बनारस का ऐतिहासिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिचय भी प्रस्तुत करती है। इसमें नगर की प्राचीनता, ऐतिहासिक विकास, विभिन्न राजवंशों तथा मध्यकाल एवं ब्रिटिश काल के प्रशासनिक परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है। इस पुस्तक में काशी विश्वनाथ मंदिर सहित अनेक प्रमुख मंदिरों, मठों और तीर्थस्थलों का वर्णन किया गया है। प्रत्येक मंदिर की धार्मिक महत्ता तथा उससे जुड़ी मान्यताओं का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है।

यद्यपि यह पुस्तक अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्रोत है, फिर भी इसका अध्ययन करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इसे एक ब्रिटिश औपनिवेशिक अधिकारी ने लिखा था। इसलिए हिंदू धर्म एवं भारतीय समाज के संबंध में कुछ टिप्पणियाँ औपनिवेशिक दृष्टिकोण से प्रभावित हैं। इस पुस्तक में भारतीय धार्मिक विश्वासों की व्याख्या कई स्थानों पर पश्चिमी दृष्टि से की गई है। साथ ही, सामाजिक और सांस्कृतिक विश्लेषण में तत्कालीन ब्रिटिश प्रशासनिक सोच का प्रभाव दिखाई देता है। इसी कारण आधुनिक इतिहासकार इस पुस्तक का उपयोग भारतीय स्रोतों, संस्कृत ग्रंथों, स्थानीय अभिलेखों तथा समकालीन शोध के साथ मिलाकर करते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी भारत में प्राच्य अध्ययन (Oriental Studies) के विकास का महत्वपूर्ण काल था। इसी समय अनेक यूरोपीय विद्वानों ने भारतीय धर्म, दर्शन, भाषा और इतिहास का व्यवस्थित अध्ययन प्रारम्भ किया। इन विद्वानों में एच. एच.

विल्सन का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे उन प्रारम्भिक पाश्चात्य विद्वानों में थे जिन्होंने संस्कृत साहित्य, वेद, पुराण, हिन्दू सम्प्रदायों तथा भारतीय धार्मिक परम्पराओं को व्यवस्थित रूप से अंग्रेज़ी जगत के समक्ष प्रस्तुत किया। उनकी विद्वत्ता केवल अनुवाद तक सीमित नहीं थी, बल्कि उन्होंने भारतीय समाज, धर्म और संस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन की एक नई दिशा भी प्रदान की। उनके ग्रंथ आज भी हिन्दू धर्म के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए आधारभूत स्रोत माने जाते हैं।

विल्सन हिन्दू धर्म के आरंभिक चरण को वैदिक परंपरा से जोड़ते हैं। उनके अनुसार प्रारंभिक धार्मिक जीवन में यज्ञ, देवताओं की स्तुति, प्राकृतिक शक्तियों का पूजन और पुरोहित वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका केंद्रीय थी। ऋग्वैदिक देवता जैसे इन्द्र, अग्नि, वरुण और सोम उस समय के धार्मिक संसार में प्रमुख थे। लेखक यह रेखांकित करते हैं कि वैदिक धर्म में पूजा का स्वरूप अपेक्षाकृत सरल, प्रकृति-केन्द्रित और यज्ञ-प्रधान था, लेकिन जैसे-जैसे सामाजिक जीवन जटिल हुआ, धार्मिक आचरण भी अधिक विधिबद्ध और कर्मकांड-प्रधान होता गया। ब्राह्मण ग्रंथों के साथ यज्ञ की अनुष्ठानिक जटिलता बढ़ती गई, और पुरोहित वर्ग धार्मिक ज्ञान का संरक्षक बन गया। यह चरण हिन्दू धर्म के बाहरी, कर्मकांडीय पक्ष का विकास दिखाता है।

विल्सन हिन्दू धर्म को एक विशाल, ऐतिहासिक और बहुस्तरीय सभ्यता-धर्म के रूप में समझते हैं, जिसमें वैदिक जड़ें, दार्शनिक गहराई, कर्मकांडीय अनुशासन, पुराणिक कल्पना, सम्प्रदायिक विविधता और लोक-आस्था सब सम्मिलित हैं। यद्यपि उनकी भाषा और दृष्टि उन्नीसवीं शताब्दी के औपनिवेशिक-विद्वतापरक संदर्भ से प्रभावित है, फिर भी उनकी कृति हिन्दू धर्म के आंतरिक विकास को क्रमबद्ध ढंग से समझने का एक महत्वपूर्ण प्रारंभिक स्रोत है। शोध की दृष्टि से यह पुस्तक इसलिए मूल्यवान है क्योंकि यह धर्म को केवल विश्वास-व्यवस्था नहीं, बल्कि इतिहास, समाज, दर्शन और सांस्कृतिक व्यवहार के संयुक्त रूप में देखती है।

दुनिया भर से बनारस पहुंचे इतिहासकारों, पर्यटकों, कविओं और लेखकों ने हिन्दू धर्म, तीर्थ-परंपरा और भारतीय धार्मिक चिंतन को अपने ढंग से समझने की कोशिश की है लेकिन इनमें से एक प्रमुख नाम हार्वर्ड विश्वविद्यालय में धर्म-अध्ययन से जुड़ी रहीं

प्रसिद्ध अमेरिकी धर्म-इतिहासविद् और लेखक डायना एल. ऐक की पुस्तक "बनारस-सिटी आफ लाइट" का अलग स्थान है। उन्होंने भारतीय धार्मिक परंपराओं, खासकर हिन्दू तीर्थस्थलों, पर गहरा शोध किया है। उनकी इस पुस्तक में उन्होंने काशी को हिन्दू सभ्यता, गंगा-भक्ति, शिव-परंपरा और मोक्ष-कल्पना के जीवित केंद्र के रूप में प्रस्तुत किया है। डायना बनारस के घाटों को केवल स्थापत्य-रचना नहीं, बल्कि शहर की धार्मिक और सामाजिक जीवन-रेखा के रूप में देखती हैं। उनके अनुसार घाट गंगा तक उतरने वाली सीढ़ियाँ हैं, लेकिन वास्तव में वे पूजा, स्नान, अनुष्ठान, उत्सव, संवाद और दैनिक जीवन के प्रमुख आधार हैं। पुस्तक में घाटों को बनारस की पहचान का केंद्रीय तत्व माना गया है, क्योंकि शहर का शहरी रूप, धार्मिक अनुभव और नदी से संबंध इन्हीं से बनता है।

बनारस के घाटों में अस्सी, दशाश्वमेध, पंचगंगा, मणिकर्णिका जैसे नाम विशेष रूप से प्रमुख हैं। कई घाट मंदिरों, दानदाताओं, मठों और राजसत्ताओं से जुड़े रहे हैं, और अधिकांश घाटों का पुनर्निर्माण 1700 ईस्वी के बाद हुआ माना जाता है। बनारस को मृत्यु और मुक्ति की नगरी के रूप में मान्यता मिली है। अपनी पुस्तक में डायना बताती हैं कि बहुत-से लोग यहाँ "अच्छी मृत्यु" या मोक्ष की आशा से आते हैं, क्योंकि गंगा-तट और शिव-नगरी के रूप में बनारस को आध्यात्मिक मुक्ति से जोड़ा जाता है। पुस्तक के अनुसार, मणिकर्णिका घाट और हरिश्चंद्र घाट इस विचार के सबसे गहरे प्रतीक हैं। मणिकर्णिका घाट का संबंध निरंतर दाह-संस्कार परंपरा से है, जबकि हरिश्चंद्र घाट को भी मृत्यु-संस्कार की परंपरा के कारण विशेष महत्व प्राप्त है।

पुस्तक में अस्सी घाट का विवरण करते हुए कहा गया है,

" पंचतीर्थ यात्रा असी घाट से शुरू होती है, जो शहर के प्रमुख स्नान घाटों में से एकमात्र ऐसा घाट है जो आज भी मिट्टी का बना है और यहाँ तीर्थयात्री असी और गंगा नदियों के संगम में स्नान करते हैं। असी घाट का कच्चा किनारा नदी में उतरने वाली कंक्रीट की बड़ी सीढ़ियों से अलग है, जो नदी तट के अधिकांश हिस्सों में बनी हुई हैं।

असी घाट का फिसलन भरा मिट्टी का किनारा हमें याद दिलाता है कि बनारस नदी तट के बड़े पत्थर और कंक्रीट के घाट पिछली तीन शताब्दियों की देन हैं, जिनका निर्माण मुख्य

रूप से अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में मराठों के संरक्षण में हुआ था। अपने इतिहास के अधिकांश समय में, पूरा नदी तट असी घाट जैसा ही था।"

" अपने फिसलन भरे किनारे के बावजूद, असी घाट सबसे व्यस्त घाटों में से एक है, जो शहर के पूरे दक्षिणी छोर से सुबह स्नान करने वालों को आकर्षित करता है। असी, पवित्र क्षेत्र का सबसे दक्षिणी स्नान घाट होने के कारण महत्वपूर्ण है। इसके दक्षिण में दूर-दूर तक खेत फैले हुए हैं। यहाँ गंगा में स्नान करने के बाद, पंचतीर्थ तीर्थयात्रियों को असी संगम पर स्थित शिवलिंग, असी संगमेश्वर, यानी "असी में संगम के स्वामी" के दर्शन के लिए निर्देशित किया जाता है। घाट के शीर्ष पर स्थित गली में कुछ कदम अंदर जाने पर, यह एक छोटा, सुव्यवस्थित मंदिर है, जिस पर एक संगमरमर की पट्टिका लगी है जो काशी खंड के कुछ श्लोकों के साथ इस स्थल की पौराणिक विरासत को स्थापित करती है। वहाँ तीर्थयात्री पढ़ सकते हैं: "पृथ्वी को घेरने वाले अन्य सभी तीर्थ असी संगम के तीर्थ के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं।"

असी से दशाश्वमेध तक

अपनी पुस्तक में डायना बताती हैं कि "असी और तुलसी घाटों से नदी के किनारे चलते हुए समकालीन महिला संत आनंदमयी माता के आश्रम से गुजरते हैं, और फिर सत्रहवीं शताब्दी के महाराजा चेत सिंह के महल से, जो शिवाला नामक नदी तट घाट पर स्थित है। इसके बाद हनुमान घाट आता है, जिसे ये तीर्थयात्री महान भक्ति गुरु वल्लभ की जन्मभूमि के रूप में जानते हैं, जो पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और सोलहवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में रहे और उन्होंने कृष्ण भक्ति के एक महान पुनरुत्थान की दार्शनिक नींव रखी। अपने मंदिरों की बात करें तो, यह घाट न केवल अपने नाम, राम के वानर सेवक हनुमान के लिए प्रसिद्ध है, बल्कि रुरु भैरव की प्रतिमा के लिए भी प्रसिद्ध है, जो काल भैरव के सहायक आठ बनारस भैरवों में से एक हैं। आज इस हनुमान घाट क्षेत्र में एक बड़ा दक्षिण भारतीय समुदाय रहता है, जिसने दक्षिण भारतीय शैली में एक भव्य नया मंदिर बनाया है।"

अस्सी घाट वाराणसी के सबसे प्रसिद्ध घाटों में से एक है। यह घाट उस ऐतिहासिक स्थान पर स्थित है जहाँ प्राचीन काल में अस्सी नदी (अब अधिकांशतः सूख चुकी) गंगा में मिलती थी। इसी दवजह से इसका नाम "अस्सी" पड़ा।पौराणिक मान्यता के अनुसार, देवी दुर्गा ने अपना खड़ा (तलवार) यहाँ पानी में फेंका था। यह स्थान पौराणिक तीर्थ माना जाता है।

———————————

संदर्भ-

डायना एल. ऐक, "बनारस- सिटी आफ लाइट" पेज नंबर 222 और 223, पेंगुईन रैडम हाउस (प्रकाशन वर्ष 1983)